सूर काव्य में नारी गरिमा

डेज़ी वालिया

नृत्य का प्राचीन भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण रहा है। मंदिरों में गायन तथा नर्तन मोक्ष प्राप्ति के साधन माने जाते थे। मध्यकाल में नृत्य की वृत्ति धर्म और अध्यात्म से अपना सम्बन्ध तोड़कर विलासोन्मुख होने लगी। ऐसे समय भारतीय नृत्य परम्परा को अपने शुद्ध स्वरूप में स्थाई रखने का श्रेय हिन्दी काव्य के भक्तिकालीन कवियों को ही है।

सूरदास जी इन भक्त कवियों में अग्रणीय कवि हैं, जो अपनी रचनाओं में नृत्य के विविध रूपों को प्रस्तुत कर सकने में समर्थ हुए। सूरदास साहित्यकार होने के साथ-साथ संगीताचार्य भी थे। उन्हें संगीत के तीनों अंगों—गायन वादन, नृत्य का पूर्ण ज्ञान था सूर-काव्य में ऐसे असंख्य उदाहरण प्राप्त हैं, जिनमें नृत्य तत्त्वों का समावेश अत्यंत मार्मिक है परन्तु नृत्य-ज्ञान के अभाव में इनका रसस्वादन करने से हम वंचित रह जाते हैं। प्रस्तुत रचना में सूरदास के इस पक्ष को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

इस पुस्तक में जहाँ एक ओर सूरदास के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न है, वहाँ दूसरी ओर नृत्य-शास्त्र की दृष्टि से उसकी परिभाषा व स्वरूप को निश्चित करते हुए सूर-काव्य में विविध नृत्य रूपों को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। सूर अपने काव्य में वाद्य यंत्रों के पूर्ण परिचय के साथ-साथ रस-भाव के क्षेत्र में भी अवतरित हुए हैं। नख-शिख वर्णन तथा अंग संचालन के विषय में सूर कितने अनुभवी थे, यह देखकर आश्चर्य होता है। लय और ताल की दृष्टि से सूर के पदों की समीक्षा करने के प्रयास के साथ-साथ उसमें उपलब्ध नायिका भेदों के वर्णन की ओर भी प्रस्तुत पुस्तक में पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है।

सूर-काव्य में नृत्य-भंगिमा

सूर काव्य में नृत्य-भंगिमा

डेज़ी वालिया

प्राध्यापिका (संगीत एवं नृत्य)

गवर्नमेन्ट कॉलिज फार विमैन

पटियाला

वाणी प्रकाशन
4697/5, 21-ए, दरियागंज नई दिल्ली-110002
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण 1985
 : मूल्य 40.00 रुपये
आवरण : गोविन्द प्रसाद

अशोक कम्पोजिंग एजेन्सी, द्वारा
कमल प्रिंटर्स, दिल्ली-110031
में मुद्रित

Sur Kavya Mein Nritya Bhangima
by Daisy Walia

दो शब्द

नृत्य का प्राचीन भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान था। नृत्य का अध्यात्म और धर्म से गहन सम्बन्ध था। मन्दिरों में गायन तथा नर्तन मोक्ष प्राप्ति के साधन माने जाते थे। मध्यकाल में नृत्य की वृत्ति धर्म और अध्यात्म से अपना सम्बन्ध तोड़कर विलासोन्मुखी होने लगी। ऐसे समय में भारतीय नृत्य परम्परा को अपने शुद्ध स्वरूप में स्थायी रखने का श्रेय हिन्दी काव्य के भक्तिकालीन कवियों को ही है। सूरदास जी इन भक्त कवियों में अग्रगण्य कवि है, जो अपनी रचनाओं में नृत्य के विविध रूपो को प्रस्तुत कर सकने में समर्थ हुए हैं। सूरदास साहित्यकार होने के साथ-साथ सगीताचार्य भी थे। उन्हें संगीत के तीनों अंगों—गायन, वादन, नृत्य का पूर्ण ज्ञान था। सूर-काव्य में संगीत के यह तीनों अंग हमें विस्तृत मात्रा में उपलब्ध होते हैं। सूर-काव्य में ऐसे असंख्य उदाहरण प्राप्य हैं, जिनमें नृत्य तत्वों का समावेश अत्यन्त मार्मिक है, परन्तु नृत्य-ज्ञान के अभाव के कारण पाठक तथा आलोचक उसका पूर्ण रसास्वादन करने से वंचित रह जाते हैं। सूर के आलोचकों के लिए यह महत्त्वपूर्ण पक्ष आज तक अछूता ही रहा है। प्रस्तुत रचना में सूरदास के इस पक्ष को उजागर करने का प्रयास किया गया है।

इस पुस्तक में जहाँ एक ओर सूरदास के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न है, वहाँ दूसरी ओर नृत्य-शास्त्र की दृष्टि से उसकी परिभाषा व स्वरूप को निश्चित करते हुए सूर-काव्य में विविध नृत्य-रूपों को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। सूर अपने काव्य में वाद्ययन्त्रों के पूर्ण परिचय के साथ-साथ रस-भाव के क्षेत्र में भी अवतरित हुए हैं। नख-शिख वर्णन तथा अंग-संचालन के विषय में सूर कितने महानुभवी

थे यह देखकर आश्चर्य होता है। लय और ताल की दृष्टि से सूर के पदों की समीक्षा करने के प्रयास के साथ-साथ उसमें उपलब्ध नायिका भेदों के वर्णन की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है।

मेरा विश्वास है कि संगीत एवं नृत्य-प्रेमियों के लिए यह पुस्तक सूर-काव्य में नये आयामों को खोजने और स्थापित करने की प्रेरणा देगी।

मैं उन विद्वानों एवं गुरुजनों के प्रति आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा अथवा कृतियों से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में मुझे इस कार्य को सम्पन्न करने की सहायता मिली है। अन्त में मैं वाणी प्रकाशन के प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूँ जिनके सहयोग के कारण ही यह पुस्तक आप तक पहुँच सकी है।

—डेजी वालिया

विषय-सूची

संगीतज्ञ सूरदास : व्यक्तित्व और कृतित्व

सूरदास का जीवन और व्यक्तित्व

महाकवि सूरदास हिन्दी के उन महान भक्तिकालीन कवियों में से है जिन्होंने केवल भारतीय जनमानस को ही नहीं अपितु मानव मात्र के हृदय को प्रभावित किया है। सूरदास ने भक्त-कवियों की ही भाँति अपनी रचनाओं में प्रत्यक्ष रूप से अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में नहीं के बराबर लिखा है। कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में कुछ संकेत ऐसे अवश्य मिल जाते हैं जिनको उनके जीवन से सम्बन्धित किया जा सकता है, परन्तु ये संकेत भी प्रायः ऐसे हैं जो विशेष रूप से उनके दैन्य-भाव और भगवद्भक्ति की व्यंजना करने वाले हैं। इतना होने पर भी उनके जीवन पर अन्तःसाक्ष्य और वाह्य साक्ष्य के आधार पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला जा सकता है।

अन्तःसाक्ष्य के रूप में सूरदास के आत्म-कथन आते हैं जो उनके पदों में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। परन्तु इन पदों पर भी विद्वानों में मतभेद हैं। व्याख्याएँ और आकलन ही भिन्न नहीं हैं परन्तु यहाँ तक भी विवाद है कि अमुक पद सूर का है भी अथवा प्रक्षिप्त। इस दृष्टि से अन्तःसाक्ष्य के रूप में उपलब्ध सामग्री दो प्रकार की है—प्रथम कोटि में सूर के जीवन से सम्बद्ध घटनाएँ आती हैं, जिनका उल्लेख समसामयिक तथा परवर्ती प्राचीन लेखकों तथा कवियों ने अपनी कृतियों में किया है। दूसरी कोटि में आधुनिक सामग्री आती है जो हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों तथा आलोचनात्मक ग्रन्थों में है। अन्तःसाक्ष्य और वाह्य साक्ष्य तथा इन दोनों के आधार पर आधुनिक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले मत और निर्णय को ध्यान में रख कर महाकवि सूरदास की जीवनी पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है।

जीवन : जन्म-संवत्

सूरदास की जन्मतिथि का स्पष्ट उल्लेख किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर विद्वानों के समक्ष सूर के निम्न दो पद हैं—

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिवविधान तप कर्यो बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन॥

—सूर सारावली

मुनि पुनि रमन के रस लेख ।
दसन गौरी नन्द को लिखि सुबल संवत पेख ।।
—साहित्य लहरी

हिन्दी के विद्वानों ने सूरदास का जन्म-संवत् प्रायः 1540 माना है और सभी इतिहासकारों ने इसी को दोहराया है। इसका कारण लेखक द्वय (द्वारिकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल) के शब्दों में यह है—"हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान मिश्र बन्धुओं ने सूरदास का आनुमानिक जन्म-संवत् 1540 लिखा था, जिसका अनुकरण हिन्दी के प्रायः सभी इतिहासकारों ने किया है।"[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूरदास का जन्मकाल संवत् 1540 के आसपास और मृत्युकाल संवत् 1620 के आसपास माना है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी सूरदास का जन्म संवत् 1540 के आसपास माना है और मृत्यु का समय संवत् 1642 निर्धारित किया है।

'सूर-निर्णय' के लेखक द्वय ने सूरदास का जन्म-संवत् 1535 निर्धारित किया है—"पुष्टि सम्प्रदाय में परम्परा से यह मान्यता चली आ रही है कि सूरदास श्री वल्लभाचार्य जी से आयु में दस दिन छोटे थे। आचार्य जी का जन्म-दिवस संवत् 1535 की वैशाख कृष्णा 10 उपरान्त 11 रविवार निश्चित है, अतः सूरदास की जन्म-तिथि संवत् 1535 की वैशाख शुक्ला पंचमी मंगलवार हुई।"[2] अपने कथन के प्रमाण में लेखक द्वय ने गोसाई श्री गोकुलनाथ जी (जन्म-संवत् 1608) की 'निजवार्ता' का प्राचीन प्रमाण प्रस्तुत किया है। 'निजवार्ता' में लिखा है कि "सो सूरदास जी जब श्री आचार्य जी महाप्रभु को प्रागट्य भयौ है, तब इनको जन्म भयौ है। सो श्री आचार्य जी सों ये दिन दस छोटे हुते।" श्री हरबंश लाल शर्मा जी के अनुसार भी "सूरदास जी की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ल 5 मंगलवार संवत् 1535 ही ठहरती है।"[3] डॉ० शंकरदेव अवतरे ने भी इसी मत से अपनी सहमति प्रकट की है।[4] वल्लभ सम्प्रदाय की सेवा-प्रणाली के इतिहास की संगति से सूर सारावली का रचनाकाल संवत् 1602 स्पष्ट होता है। उस समय सूरदास की आयु 67 वर्ष की थी। 1602 में से 67 कम कर देने से संवत् 1535 रहता है। अतः अन्तःसाक्ष्य से भी सूरदास का जन्म-संवत् 1535 ही सिद्ध होता है।

1. द्वारिकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल : सूर-निर्णय, पृ० 53
2. वही, पृ० 53
3. श्री हरबंश लाल शर्मा (सम्पादक) : सूरदास, पृ० 15
4. डा० शंकरदेव अवतरे : महाकवि सूर और भ्रमरगीत, पृ० 8

जाति तथा वंश

सूरदास की जाति और वंश भी विवादास्पद हैं। साहित्य लहरी और सू सारावली में वंश-परिचय सम्बन्धी निम्न दो पद मिलते हैं—

प्रथम ही प्रथु जागतें भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप।।
....
तासु वंश प्रसंग में भौ चन्द चारु नवीन।
भूप पृथ्वीराज दीन्हौं तिन्हे ज्वाला देश।
तनय ताके चार कीन्हौं प्रथम आयु नरेश।।
दूसरे गुन चन्द ता सुत सील चन्द सरूप।
वीर चन्द प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप।
रंथ भौर हमीर भूपति संग खेलन जात।
तासु वंस अनूप भौ हरिचन्द अति विख्यात।।
—साहित्य लहरी

प्रबल दक्षिण विप्रकुल तैं शत्रु ह्वै हैं नास
अखिल बुद्धि विचारि विद्या मान मानै सास।
—सूर सारावली

दोनों पदों में वंश सम्बन्धी भिन्नता होने के कारण विद्वानों में मतैक्य नहीं है। डॉ० मुंशीराम शर्मा ने साहित्य लहरी वाले पद को प्रामाणिक मानते हुए सूर को ब्राह्मण माना है और महाकवि चन्दबरदायी के वंश से उनका नाता जोड़ा है। सूर को उच्च जाति का सिद्ध करने वाले अनेक बाह्य साक्ष्य प्रमाण भी मिलते हैं। गोस्वामी विट्ठलनाथ तथा गोकुलनाथ जी के समकालीन कवि प्राणनाथ ने सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण बतलाया है—

श्री वल्लभ प्रभु लाड़िले, सीही-सर जलजात।
सारसुती दुज तरु सुफल, सूर भगत विख्यात।।[1]

यहाँ पर 'सारसुती दुज' का अर्थ सारस्वत ब्राह्मण है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के छठे पुत्र यदुनाथ जी ने भी सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण बतलाया है। श्री हरिराय जी ने 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के भावप्रकाश में सूरदास को स्पष्ट रूप से सारस्वत ब्राह्मण लिखा है।[2] सूरदास के सारस्वत ब्राह्मण होने के तथ्य को अब अधिकांश विद्वान स्वीकार करने लगे हैं।

---

1. 'अष्टसखामृत' से—श्री द्वारिकादास परीख तथा श्री प्रभुदयाल मीतल द्वारा 'सूर-निर्णय' में उद्धृत, पृ० 60
2. द्वारिकादास परीख तथा श्री प्रभुदयाल मीतल : सूर निर्णय पृ० 60

जन्म-स्थान

सूरदास का जन्म-स्थान भी विवाद का विषय बना हुआ है। कुछ विद्वान 'रुनकता' को इनका जन्म-स्थान मानते हैं और कुछ दिल्ली के निकटवर्ती सीही ग्राम को। चौरासी वैष्णवों की वार्ता में सूर के निवास-स्थान को गौ घाट कहा गया है, जिसकी स्थिति आगरा और मथुरा प्रान्त के बीच बतलाई गई है। सीही ग्राम को जन्म-स्थान मानने वाले विद्वान इसके निम्न दो आधार मानते हैं—

1. श्री हरिराय जी ने चौरासी वार्ता के भाव-प्रकाश में सूरदास का जन्म-स्थान दिल्ली के निकटवर्ती 'सीही' नामक ग्राम बतलाया है।

2. गोस्वामी विट्ठलदास जी तथा गोकुलनाथ जी के समकालीन कवि प्राणनाथ ने भी 'अष्ट-सखामृत' में 'सीही' को ही सूर का जन्म-स्थान बतलाया है।

डॉ० मुंशीराम शर्मा ने रुनकता को सूरदास का निवास-स्थान मानते हुए लिखा है—"रुनकता निवासियों के कथनानुसार सूरदास यहीं रहा करते थे। चौरासी वार्ता में भी यही स्थान लिखा है। गोपाचल और गौघाट दोनों में नाम की समता है। दोनों को आगरा के निकट बताया गया है। रुकनता भी यहाँ से पास है। अतः सम्भव है, सूर का निवास-स्थान यहीं पर रहा हो। ग्वालियर तथा गोवर्धन पर्वत को भी प्राचीन ग्रन्थों में गोपाचल कहा गया है। भारतेन्दु की सम्मति में सूर के पूर्वज दिल्ली के समीप सीही ग्राम में रहते होंगे। वहाँ से चलकर गोपाचल में रहने लगे होंगे। यह भी सम्भव है कि परिवार के कुछ व्यक्ति सीहीं में और कुछ गोपाचल में रहते हों। चौरासी वार्ताकार रुनकता के समीपवर्ती गौघाट को ही सूर का निवास-स्थान बताते है।"[1]

सूर के उपनाम

सूर के ग्रन्थों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सूर, सूरज, सूरदास तथा सूरश्याम ये सभी सूरदास जी के ही उपनाम हैं। डॉ० मुंशीराम शर्मा के अनुसार "सूर, सूरज, सूरजदास, सूरश्याम आदि सभी उपनाम महाकवि सूरदास के ही है। पद-रचना में जहाँ जैसा नाम उपयुक्त जान पड़ा और पद के अनुकूल बैठ गया, वहाँ वैसा ही नाम उन्होंने प्रयुक्त कर दिया है।"[2] सूर-सागर में भी कई स्थलों पर एक क्रमबद्ध प्रसंग के ही भीतर विभिन्न उपनामों का उल्लेख हुआ है। उदाहरणतः दशम स्कन्ध के 'यज्ञपत्नी वचन' के अन्तर्गत निम्न उपनामों का बार-बार उल्लेख हुआ है—

---

1. डा० मुंशीराम शर्मा : सूर-सौरभ, पृ० 23-24
2. डा० मुंशीराम शर्मा : सूर संचयन, पृ० 22

अवसर गऐं बहुरि सुनि सूरज, कह कीजैगी देह।[1]
सूर सकल सखियनि तैं-आगैं, अबहीं मूढ़ मिलति नंद-ललाहिं।[2]
सूरदास गोपी तनु तजि के, तन्मय भई नंद-लाल सौं।[3]

सम्भव है सूर के पद विभिन्न गायकों के हाथ में पड़कर अपने मूल रूप से कुछ भिन्न हो गए हों। हो सकता है कि गायकों ने अपनी रुचि के अनुकूल उनमे सूर के प्रसिद्ध उपनामों में से कहीं सूर, कहीं सूरदास, कहीं सूरश्याम और कही सूरज आदि उपनाम रख दिए हों। पद की पंक्ति थोड़ा इधर-उधर कर देने से ये सभी उपनाम उनमें ठीक बैठते हैं।

सूर का अन्धत्व

सूरदास का अन्धत्व भी हिन्दी के विद्वानों के लिए मतभेद और वाद-विवाद का विषय है। सूरदास की अन्धता तो सभी विद्वान स्वीकार करते हैं परन्तु प्रश्न यह है कि सूरदास जन्मान्ध थे या बाद में अन्धे हुए। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि "सूरदास की रचनाओं में प्रकृति का और मनुष्य के भावों के उतार-चढ़ाव का जैसा सूक्ष्म चित्रण है, उसे देखकर यह कहने का साहस नही होता कि सूरदास ने विना अपनी आँखों से देखे केवल कल्पना से यह सब लिखा है।"[4] डॉ० श्यामसुन्दर दास भी सूर को जन्मान्ध स्वीकार नहीं करते। उनके कथनानुसार "सूर वास्तव में जन्मान्ध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है, वैसा कोई जन्मान्ध नहीं कर सकता।"[5] डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के अनुसार "यदि सूरदास को जन्मान्ध माना जाए तो इस विचार और युक्ति के युग में भी हमे चमत्कार पर विश्वास करना पड़ेगा।"[6] इस प्रकार "हिन्दी साहित्य के विद्वान सूरदास के काव्य की पूर्णता से प्रभावित हो उनकी जन्मान्धता मे विश्वास नहीं करते हैं, वरना उनके पास जन्मान्धता के विरुद्ध कोई प्रमाण नही है।"[7]

सूरदास की जन्मान्धता को सिद्ध करने वाले अनेक अन्त:साक्ष्य और बहि.-साक्ष्य प्रमाण मिलते हैं। सूर ने अपने काव्य में कई स्थानों पर अपने आप को जन्मान्ध कहा है—'सूर-निर्णय' के साक्ष्य पर निम्नलिखित पद सूर के

1 सूरसागर (पहला खंड) पृ० 431, पद सं० 1419
2 वही, पृ० 431, पद सं० 1420
3 वही, पृ० 431, पद सं० 1422
4 श्री नन्ददुलारे वाजपेयी : सूर सन्दर्भ, पृ० 34
5 डा० श्यामसुन्दर दास : हिन्दी साहित्य, पृ० 185
6 डा० ब्रजेश्वर वर्मा : सूरदास, पृ० 31
7 डा० दीनदयालु गुप्त : अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृ० 202

जन्मान्धत्व का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं[1]—

(1) किन तेरो गोविन्द नाम धर्‌यो।
संदीपनि के सुत तुम ल्याये, जब विद्या जाय पठ्‌यो ॥
सूर की बिरियाँ निठुर होइ बैठे, जन्म अन्ध कर्‌यो ॥

(2) हरि बिन संकट में को काको।
रह्यौ जात एक पतित जन्म कौ आँधरो सूर सदा कौ ॥

(3) नाथ मोहिं अबकी बेर उबारौ।
करम-हीन जन्म कौ अन्धो मोते कौन न कारौ ॥

यदि इन पदों की प्रामाणिकता निर्विवाद हो जाए तब तो सूर की जन्मान्धता में सन्देह का कोई अवसर ही नहीं हो सकता। किन्तु ये पद नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा सम्पादित सूरसागर में प्राप्त नहीं होते। सूरसागर में अनेक पद सूर के अन्धत्व के प्रतिपादन में प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

यह माँगौ बार-बार प्रभु सूर के नयन दोउ रहैं, नर देह पाऊँ।[2]
सूरदास सौं कहा निहारौ, नैननि हूँ की हानि।[3]

बहिःसाक्ष्य में तो बहुत-से प्रमाण मिलते हैं जो सूरदासजी को जन्मान्ध सिद्ध करते हैं। सूरदासजी के समकालीन श्रीनाथ भट्ट ने 'संस्कृत मणिमाला' में इन्हें जन्मान्ध कहा है—

"जन्मान्धो सूरदासोऽभूत।"

दूसरे समकालीन कवि प्राणनाथ ने भी इनकी जन्मान्धता की ओर इंगित किया है—

बाहर नैन-विहीन सो, भीतर नैन विसाल।
जिन्हें न जग कछु देखिवो, लखि हरि रूप निहाल ॥

रघुराज सिंह कृत 'रामरसिकावली' तथा मियाँ सिंह कृत 'भक्त विनोद' ग्रन्थों मे भी सूर को जन्मान्ध ही दर्शाया गया है—

(1) जन्मत तें है नैन विहीना, दिव्य दृष्टि देखहिं सुख भीना।
(2) जन्म अन्ध दृग ज्योति विहीना, जननि-जनक कछु हरष न कीना।

श्री हरिरायजी रचित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के भाव प्रकाश में सूरदास को स्पष्ट रूप से जन्मान्ध वर्णित किया गया है—

सो सूरदास को जन्म ही सों नेत्र नाहीं हैं।

इस प्रकार अन्तःसाक्ष्य और बाह्य साक्ष्य के आधार पर जितने भी प्रमाण

---

1. द्वारिकादास परीख तथा श्रीप्रभुदयाल मीतल : सूर-निर्णय
2. सूरसागर (पहला खंड) पृ० 483, पद सं० 1624
3. वही, पृ० 37, पद सं० 135

मिलते हैं, उन सबसे यही सिद्ध होता है कि सूर जन्मान्ध थे। किन्तु उनकी रचनाओं में रंगों, शरीर की बाह्य चेष्टाओं तथा प्रकृति के विभिन्न व्यापारों के सूक्ष्म वर्णनों तथा उपमानों के यथातथ्य विधानों से ऐसा प्रतीत होता है कि जन्मान्ध नहीं थे। किन्तु यह तर्क सूरदासजी जैसे महान् भक्त के लिए अन्तिम प्रमाण नहीं माना जा सकता। "यह विश्वास भौतिक परिणति के अभाव में एक वैज्ञानिक को तो सन्तुष्ट नहीं कर सकता : वह पिण्ड में आँखों को उदित होता नहीं देख सकता। पर अन्तर्ज्ञान की क्षतिपूरक प्रखरता, या अन्य किसी इन्द्रिय की शक्ति में वृद्धि हो जाना, एक स्तर पर मनोविज्ञानी को स्वीकृत है। दार्शनिकों के मतानुसार यही अन्तर्ज्ञान या स्वयं प्रकाश ज्ञान का विकास है। इसी का नाम दिव्य दृष्टि या अन्तर्दृष्टि है।"[1] नाभादासजी के 'भक्तमाल' की निम्नलिखित पंक्तियों से भी इसी कथन का समर्थन होता है—

प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि, हृदय हरि लीला भासी।
जन्म, कर्म, गुण, रूप, सबै रसना जु प्रकासी॥

इस प्रकार बहिर्साक्ष्य के आधार पर सूरदास का जन्मान्ध होना प्रमाणित है। डॉ० हरबंश लाल शर्मा का कथन है, "अन्तःसाक्ष्य में भी यत्र-तत्र उनके अन्धत्व पर तो स्पष्ट प्रकाश है किन्तु जन्मान्धत्व पर प्रामाणिक पदों की उपलब्धि नहीं हुई है। फिर भी उनके जन्मान्ध न होने अथवा बाद में अन्धे होने के सम्बन्ध में न तो कहीं से कोई साक्ष्य मिलता है और न इतने बृहत सूरसागर में कहीं कोई झलक मिलती है। इसलिए इतिहास-पुष्ट प्रमाणों के अभाव में सूर को जन्मान्ध ही स्वीकार करना उचित है।"[2]

सूरदास का कृतित्व

कविकुल-शिरोमणि महात्मा सूरदास द्वारा सवा लाख पदों की रचना करना प्रसिद्ध है। 'चौरासी वार्ता' के 'वार्ता प्रसंग 3' के प्रारम्भ में लिखा है—"और सूरदासजी ने सहस्रावधि पद किए हैं। ताको सागर कहिए। सो सब जगत में प्रसिद्ध भये।" यहाँ सहस्रावधि पद कई सहस्र पदों के द्योतक हैं। गोस्वामी हरिरायजी ने चौरासी वार्ता की भावाख्य विकृति में सूर के पदों की संख्या लक्षावधि लिखी है। "सूरदासजी के सवा लक्ष पद बनाने की किम्वदन्ती जो प्रसिद्ध है वह ठीक विदित होती है, क्योंकि एक लाख पद तो श्री वल्लभाचार्य के शिष्य होने के उपरान्त और सारावली के समाप्त होने तक बनाए। इसके आगे-पीछे के अलग ही रहे।"[3] 'सूर सारावली' में भी एक लक्ष पदों की बात स्वयं

---

1 डा० चन्द्रभान रावत : सूर साहित्य : नव मूल्यांकन, पृ० 39
2 डा० हरवंश लाल शर्मा (सम्पादक) : सूरदास, पृ० 19
3 श्री राधाकृष्णदास : श्री सूरदासजी का जीवन चरित, पृ० 2

सूरदासजी ने लिखी है—'ता दिन तें हरिलीला गाई एक लक्ष पद बन्द।' "यदि पदबन्द का अर्थ पदों के बन्द (कड़ियाँ) किया जाए और एक पद में दस कड़ियों का अनुपात लगाया जाय, तो दस हजार पदों में एक लाख बन्द हो जाते हैं। यह बात मुझे अधिक सम्भव प्रतीत होती है क्योंकि वार्ता में कई सहस्र पदों के निर्माण करने का उल्लेख है। सूरसागर में कुछ पद तीन कड़ियों के हैं और कुछ पद्धरी तथा चौपाई छन्दों में 50 से भी ऊपर बन्द हैं, जैसे चतुर्थ और पंचम स्कन्धों के अन्त में।······वैसे सवा लाख पद मानने में भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि सूरदास ने लम्बी आयु पाई थी।"[1] अभी तक प्राप्त हुए सूर के पदों की संख्या सात हजार के लगभग है। हो सकता है "सूर की दृष्टिहीनता के कारण बहुत कुछ लिपिबद्ध न हो सका; बहुत कुछ संगृहीत न हो सका, बहुत कुछ साम्प्रदायिक दृष्टि से काटकर अलग कर लिया, बहुत कुछ अभी भी कहीं बन्द पड़ा है। जो कुछ प्राप्त है, वह भी कम नहीं है।"[2]

सूरदास के नाम से कई रचनाएँ प्रचलित हैं, जिनमें से कुछ प्रकाशित हैं और कुछ अप्रकाशित। खोज रपटों तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में सूरदास की 25 रचनाओं का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

1. सूरसागर
2. सूर सारावली
3. साहित्य लहरी
4. सूर पच्चीसी
5. सूर साठी
6. सेवा फल
7. सूरदास के विनय के पद
8. भागवत भाषा
9. दशम स्कन्ध भाषा
10. सूरसागर सार
11. सूर रामायण
12. बाल लीला
13. राधारस-केलि कौतुक
14. गोवर्धन लीला
15. दानलीला
16. भँवरगीत
17. नाग लीला
18. ब्याहलो
19. प्राणप्यारी
20. दृष्टकूट के पद
21. सूर शतक
22. हरिवंश टीका (संस्कृत)
23. एकादशी महात्म्य
24. नलदमयन्ती
25. राम जन्म

इनमें से अनेक रचनाएँ सूरसागर के अन्तर्गत हैं—यथा भागवत भाषा, सूरसागर सार, सूर रामायण, बाल लीला, दान लीला, गोवर्धन लीला, भँवरगीत, ब्याहलो, सूरशतक आदि। 'सूर-निर्णय' के लेखक द्वय ने सूर की सात प्रामाणिक रचनाएँ मानी हैं—(1) सूर सागर (2) सूर सारावली (3) साहित्य लहरी (4) सूर पच्चीसी (5) सूर साठी (6) सेवा फल तथा (7) सूरदास के विनय के पद। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने केवल सूरसागर, सूर सारावली और साहित्य लहरी को ही सूरदास के प्रामाणिक ग्रन्थ माना है। सूर की ख्याति भी इन्हीं

1 डा० मुंशीराम शर्मा : सूर सौरभ, पृ० 104-05
2 डा० चन्द्रभान रावत : सूर साहित्य : नव मूल्यांकन, पृ० 102

तीन ग्रन्थों पर टिकी है और पाठकों की जिह्वा पर भी तीन ग्रन्थ ही विद्यमान रहे हैं। "इन तीनों में सूरसागर ही सूर की कीर्ति का प्रमुख आधार है। है तो यह सागर, पर आचार्य विट्ठलनाथ की दृष्टि में यह भव-सागर से पार करने वाला एक अद्भुत जहाज है। इसका निर्माण कर सूर की तड़पती हुई अतृप्त आत्मा तृप्ति पा सकी थी और अब तक जो उसे पढ़ता रहा है, वह भी शान्ति प्राप्त करता रहा है। और जब तक उसका अध्ययन जीवित है, तब तक सभी उसे पढ़कर आनन्दित होते रहेंगे।"[1] 'साहित्य-लहरी' काव्यरूप और शैली की दृष्टि से अपना महत्त्व रखती है। 'सूर सारावली' का स्थान सूर के सैद्धान्तिक पक्ष और साम्प्रदायिक परिवेश को स्पष्ट करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सूर की जो सात प्रामाणिक रचनाएँ मानी गई हैं, उनको हम सन्दर्भ की दृष्टि से तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—स्वान्तः सुखाय कृतियाँ, परार्थ लाभ सम्बन्धी कृतियाँ और सम्प्रदाय सम्बन्धी कृतियाँ। सूरसागर और सूर के विनय के पद पहले वर्ग की कृतियाँ हैं। इनमें पदरचना पूर्ण भाव-समर्पित होकर की गई है। कवि भावुकता की अथाह धारा में बहता हुआ अनजाने में कुछ ऐसी बात कह गया है, जिसका सम्बन्ध दार्शनिक जगत से जोड़ा जा सकता है। सूर का व्यक्तित्व दूसरों के प्रति उदासीन नहीं था। दूसरों के प्रति सहानुभूति, उसकी जिज्ञासा और आतुरता ने भी उसे कुछ दूसरों के लिए करने के लिए उत्तेजित किया। इस दूसरे वर्ग में ऐसी रचनाएँ सम्मिलित की जा सकती हैं जिनमें एक विशिष्ट पद्धति के भावोद्बोधन के लिए रचना की गई और दूसरे चेतावनी पूर्ण रचनाएँ जो कुमार्ग पर चल रहे व्यक्ति को सचेत करने के लिए लिखी गईं। साहित्य लहरी की रचना काव्य-पद्धति से भक्ति रसोद्बोधन के लिए की गई और सूर पच्चीसी और सूर साठी की रचना चेतावनी हित की गई। तीसरे वर्ग में सूर सारावली और सेवाफल रचनाएँ आती हैं, जो साम्प्रदायिक दृष्टि के स्पष्टीकरण और उसकी प्रतिष्ठा के लिए लिखी गईं।

अब हम यहाँ पर सूर की मुख्य रचनाओं का पृथक्-पृथक् विवेचन प्रस्तुत करना अभीष्ट समझते हैं।

सूरसागर

सूरसागर सूरदास की सर्वश्रेष्ठ और सर्वस्वीकृत प्रामाणिक रचना है। यह ग्रन्थ वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, नवल किशोर प्रेस लखनऊ तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है। सूरसागर का जो रूप अब तक हमारे समक्ष आया है उसे देखकर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसमे

1. डा० मुंशीराम शर्मा : सूर का काव्य-वैभव, पृ० 25

श्रीमद्भागवत के स्कन्धो और प्रसगो का प्राय. अनुरोध है, पर न तो यह भागवत का अनुवाद ही है और न भावानुवाद या छायानुवाद ही। अधिक से अधिक इसमे भागवत की कथा की कहीं-कही छायात्मक स्वीकृति है। "वह एक स्वतन्त्र रचना है। बालिका राधा, बालक कृष्ण के राधा के साथ खेलने के प्रसंग और भ्रमरगीत की व्यंग्यमयी उक्तियाँ भागवत में ढूँढने पर भी नहीं मिलेंगी। भागवत में उद्धव की कथा आती है, परन्तु उनके गोकुल पहुँचने पर गोपियाँ उन्हें चिढ़ातीं नहीं। वे जो कुछ कहते हैं, उसे चुपचाप सुन लेती हैं। उद्धव द्वारा कृष्ण का सन्देश पाकर उनकी विरह-व्यथा शान्त हो जाती है। कृष्ण के प्रति दिए गए उनके उलाहने भी उतने तीखे नहीं हैं। निर्गुण और सगुण का झमेला भी भागवत में दिखाई नहीं देता, जो सूरसागर के भ्रमरगीत का प्रधान अंश है। कृष्ण लीलाओं का स्मरण करती हुई एक गोपी अपने सामने गुनगुनाते हुए भ्रमर को आया देखकर कुछ चटपटी बातें अवश्य कह जाती है, नहीं तो भागवत के भ्रमरगीत में सूर-सागर जैसा भावनाओं का उफान कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके अति-रिक्त भागवत सर्ग, विसर्ग आदि दस विषयों का वर्णन करती हुई भक्ति को मूर्धन्य स्थान देती है, पर सूरसागर में मुख्य रूप से राधा-कृष्ण लीला को ही प्रधानता दी गई है। भागवत जहाँ निवृत्तिमूलक साधना का उपदेश करती है, वहाँ सूरसागर की राधा-कृष्ण लीला मनुष्यों को प्रवृत्ति मार्ग में लगाने वाली है। अत: सूरसागर भागवत का अक्षरश: अनुवाद नहीं है।"[1]

सूरसागर में भागवत के समान बारह स्कन्ध अवश्य हैं, किन्तु स्कन्धों का विस्तार सूरदास ने अपनी काव्य दृष्टि के अनुसार ही किया है।[2] निम्न विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि सूरसागर का विस्तार स्कन्धों की दृष्टि से कितना असमान है—

स्कन्ध	वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित सूरसागर के आधार पर	काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर के आधार पर
प्रथम	219	343
द्वितीय	38	38
तृतीय	18	13
चतुर्थ	12	13
पचम	4	4

1 डा० मुंशीराम शर्मा : सूर-सौरभ, पृ० 110-111

2 डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 529-530

षष्ठ	4	8
सप्तम	8	8
अष्टम	14	17
नवम	172	174
दशम	3632	4309
एकादश	6	4
द्वादश	5	5
कुल पद	4032	4936

वर्ण्य विषय

विषय की दृष्टि से सूरसागर को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक, लीला-परक, भक्ति तथा दार्शनिक सिद्धान्त विषयक पद। ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक विषय के अन्तर्गत भागवत के अतिरिक्त हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, पद्म पुराण, वायु पुराण तथा देवी भागवत आदि को आधार बनाकर पद-रचना की गई है। लीला-परक पदों का आधार मुख्यतः श्रीमद्भागवत है। कुछ लीलाओं का आधार वामन पुराण है और राधा सम्बन्धी लीलाओं का आधार ब्रह्मवैवर्त पुराण को बनाया गया है। कुछ लीलाओं की उद्भावना सूर ने स्वतन्त्र रूप से की है जो तत्कालीन प्रचलित सामाजिक प्रथाओं एवं लोकगीतों से सम्बन्ध रखती है। भक्ति तथा दार्शनिक सिद्धान्त विषयक पदों का मूलस्रोत और उपजीव्य भी भागवत पुराण ही है। मानव-लीला में भगवान की अलौकिक लीला का साक्षात्कार ही सूर का उद्देश्य है। सूर कृष्ण और गोपियों की सम्पूर्ण मानव-क्रीड़ाओं के क्रिया-कलापों, कथाओं और चरित्रों में भगवान की अचिन्त्य लीलाओं एवं उनके नित्य अपरिवर्तनशील स्वरूप का साक्षात्कार करता है।

सूरसागर में तत्कालीन ब्रज की संस्कृति का पूर्ण परिचय मिलता है। सूरसागर प्रबन्ध काव्य न होते हुए भी तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति के चित्र प्रस्तुत करता है। ब्रज के गार्हस्थ्य जीवन एवं आचार-विचारों का भी सूर ने यथोचित वर्णन किया है। जन्मोत्सव, छठी, वर्ष गाँठ, कर्ण-छेदन आदि अवसरो के उत्सवों का वर्णन श्री कृष्ण के बाल-रूप के वर्णन के प्रसंग में हुआ है।

लाला भगवानदीन तथा डॉ० मोहन वल्लभ पन्त ने 'सूर पंचरत्न' में लिखा है—"सूरदासजी का सूरसागर वास्तव में एक अपूर्व ग्रन्थ है। ग्रन्थ नहीं, किन्तु प्रेम, कविता एवं संगीत रूपी सरिताओं के सलिल से सम्पूरित सचमुच सागर ही है। एक-एक पद उस सागर का एक-एक अमूल्य रत्न है। जितने पद प्राप्त है

वे ही सूरदासजी को कवि श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। अपने विषय में सूरदासजी सबसे आगे बढ़े हैं। हरि भक्त लोग सूरसागर को मथकर अमरता प्राप्त करते हैं। काव्य-प्रेमी रसिक जनसमुदाय कवितामृत का पान कर ब्रह्मानन्द के सहोदर काव्यानन्द का मज़ा लूटते हैं। फिर संगीत-रसिकों का तो कहना ही क्या ? वे संगीत के एक-एक सुर में सुरलोक को न्यौछावर कर सकते हैं।"[1]

सूर सारावली

वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई तथा नवल किशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित सूरसागर के संस्करणों में 'सूर सारावली' प्रारम्भ मे दी गई है। इसके सम्बन्ध में यह मान्यता रही है कि इसमें 'सूरसागर' का सार दिया गया है अथवा सूर के सवा लाख पदों का यह सूची-पत्र है। इसमें स्वय इस प्रकार का संकेत है—

श्रीवल्लभ गुरु तत्व सुनायौ, लीला भेद बतायौ।
ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद-बन्द।
ताकौ सार 'सूर' सारावलि गावत अति आनन्द।[2]

सूर सारावली सूरदास की बहुचर्चित रचना है। विद्वानों में इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में मतभेद हैं। इस सम्बन्ध में निम्न तीन प्रकार के मत उपलब्ध होते हैं —

1. सूर सारावली प्रामाणिक रचना है परन्तु यह सूरसागर का सूचीपत्र अथवा अंश मात्र है।
2. सूर सारावली प्रामाणिक रचना है और यह सूरसागर की स्वतन्त्र रचना है, किसी प्रकार अंश मात्र या संक्षेप नहीं।
3. सूर सारावली एक अप्रामाणिक रचना है। यह सूरसागर का अंश या संक्षेप न होकर सूरदास के अतिरिक्त किसी अन्य कृष्ण भक्त कवि की रचना है।

डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने सूर सारावली को अप्रामाणिक रचना माना है—"यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कथावस्तु, भाव, भाषा, शैली और रचना के दृष्टिकोण के विचार से 'सूर सारावली' सूरदास की प्रामाणिक रचना नहीं जान पड़ती।"[3] डॉ० वर्मा ने अपने अभिमत के समर्थन में सूरसागर और सारावली मे 27 अन्तर दिखलाए हैं। डॉ० मुंशीराम शर्मा ने सूर सारावली को प्रामाणिक

1 लाला भगवानदीन तथा मोहन वल्लभ पन्त : सूर पंचरत्न (डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल : महाकवि सूरदास, पृ० 25 से उद्धृत)
2 सूर सारावली, तुक 1103
3 डा० ब्रजेश्वर वर्मा : सूरदास, पृ० 83

मानते हुए इसे भागवत और सूरसागर की सार सूची मात्र माना है।[1] डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल ने सूर सारावली को प्रामाणिक रचना मानते हुए कहा है—"वस्तु, भाव, भाषा और शैली तीनों दृष्टियों से सारावली के सूर कृत होने मे सदेह नहीं रह जाता।"[2] श्री द्वारिका दास परीख और प्रभुदयाल मीतल ने इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता का परीक्षण अन्तर्साक्ष्य और साम्प्रदायिक साक्ष्य के आधार पर करते हुए इसे सूरदास कृत एक स्वतन्त्र रचना माना है।

सूर सारावली में दो-दो पंक्तियों के 1107 बन्द मिलते हैं। सूरदास ने इस ग्रन्थ में इसकी रचना करने से पूर्व वर्णित की गई लीलाओं से सिद्धान्त-तत्त्व को प्रस्तुत एवं प्रतिपादित करने का सफल प्रयास किया है। इस ग्रन्थ का रचना-काल सवत् 1602 माना गया है। सूर सारावली दार्शनिकता और तत्त्वज्ञान पूर्ण है। इसे सूरदास की सैद्धान्तिक रचना कहा जा सकता है।

वर्ण्य-विषय

सूर सारावली में समग्र सृष्टि की रचना होली की लीला के रूपक द्वारा वर्णित की गई है। सम्पूर्ण संसार और संसार के समस्त व्यापार सृष्टिकर्ता के होली के खेल रूप हैं। सारावली के 1107 बन्द होली के बृहत् ज्ञान की कड़ियाँ मात्र है। सारावली में पुरुषोत्तम, वृन्दावन, कुंजलता, कालिन्दी, सारस हंस, गोवर्धन पर्वत, सृष्टि रचना, ब्रह्मा, शतरूपा, स्वयंभू, वाराहावतार, कपिल, सात लोक, नव खण्ड, सात द्वीप, चौबीस अवतार आदि विषयों का मनोरम वर्णन हुआ है। रामावतार के वर्णन में राम के बालरूप के प्रति सूर के हृदय की ममता विशेष रूप से अभिव्यक्त हुई है। सूर के राम और सीता भी होली का आनन्द मनाते दर्शाए गए हैं। इसके अतिरिक्त सारावली में कौरव-पाण्डव युद्ध का भी संक्षिप्त वर्णन है। माखन-चोरी, दधि-दान-मान आदि लीलाओं का मार्मिक चित्रण है।

सूर सारावली में भागवत की गूढ़ लीलाएँ सुस्पष्ट हुई हैं। इसका आधार 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' है जिसे वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत का 'सार समुच्चय रूप' कहा है और जो उन्होंने सूर को सुनाया था। 'समस्त तत्त्व ब्रह्माण्ड, देव, माया, काल, प्रकृति, पुरुष, श्रीपति और नारायण उसी एक गोपाल भगवान के अंश रूप हैं, जिसकी कथा भगवान की शाश्वत लीला है और जिसके समक्ष ज्ञान, कर्म, उपासना और योग सब भ्रम रूप हैं'—यही सूर सारावली का सार तत्त्व है। इस प्रकार सारावली शुद्धाद्वैत दर्शन और सम्प्रदाय में मान्य लीला-भावनाओ

1 डा० मुंशीराम शर्मा : सूरदास का काव्य वैभव, पृ० 29
2 डा० गोवर्धन नाथ शुक्ल : सूर सारावली के प्रणयन का रहस्य (हरबंश लाल शर्मा सूरदास पृ० 89)

का कथन करने वाला ग्रन्थ है। इसकी रचना में शुद्ध साम्प्रदायिक उद्देश्य निहित प्रतीत होता है। "इस रचना ने सूर को साम्प्रदायिक दायित्व से मुक्त किया। इस दायित्व को पूर्ण करना सूर के लिए इसलिए भी आवश्यक हो गया कि उन्हें भाव-साधना के लिए पर्याप्त अवकाश मिल सके। साम्प्रदायिक सिद्धान्तो का ज्ञान उनके लिए गर्व की वस्तु भी बन सकती थी, पर सूर की दृष्टि विशुद्ध भावात्मक थी। उन्हें लीलासक्ति का विस्तार करना अभीष्ट था। उसके लिए व्यावहारिक या लौकिक जीवन से वे सन्दर्भ चुनने थे जो लीलासक्ति को सैद्धान्तिक जड़ता से मुक्त करके समग्र अभिव्यक्ति को सजीव कर सकें। अत सारावली की रचना करके वे साम्प्रदायिक दायित्व से मुक्त हो गए—एक बद्धता को समाप्त किया। इससे उन्हें अपनी निजी साधना के लिए अपेक्षित स्वच्छन्दता मिल सकी।"[1]

साहित्य-लहरी

सूर कृत 'साहित्य-लहरी' कलापक्ष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अधिकाश विद्वानों ने इसे सूर की प्रामाणिक रचना के रूप में स्वीकार किया है। सूर-निर्णय के लेखको ने केवल 118वें पद को अप्रामाणिक माना है[2] तथा 'साहित्य-लहरी' की प्रामाणिकता को पूर्ण रूप से सिद्ध किया है। कुछ विद्वानों ने 109वें पद को भी अप्रामाणिक माना है। पद संख्या 109 में साहित्य-लहरी का रचना-काल तथा पद संख्या 118 में सूरदास का वंश-परिचय दिया गया है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा जो साहित्य-लहरी को अप्रामाणिक रचना मानते हैं उनका यह भी तर्क है कि "सूरसागर जैसे वृहद् ग्रन्थ में कवि अपनी रचना के विषय में मौन रहा हो, वह साहित्य-लहरी जैसे असफल प्रयत्न में नाम और रचना-काल में इतना मुखर हो जाए यह भी उसी प्रवृत्ति के प्रतिकूल जान पड़ता है।"[3] डॉ० वर्मा का साहित्य-लहरी को अप्रामाणिक मानने का एक और कारण यह भी है कि सूर जैसे भक्त कवि से अलंकार, नायिका-भेद के उद्देश्य से लिखी कृति की आशा ही नहीं की जा सकती।

वर्ण्य-विषय

साहित्य-लहरी 118 दृष्टकूट के पदों का संग्रह है। सूरदास की दृष्टकूट की शैली 'सूरसागर' तथा अन्य रचनाओं में भी यत्र-तत्र मिलती है। यह शैली

---

1 डा० चन्द्रभान रावत : सूर साहित्य : नवमूल्यांकन, पृ० 109

2 श्री द्वारिकादास परीख तथा प्रभुदयाल मीतल : सूर निर्णय 7 और 143

3 डा० ब्रजेश्वर वर्मा : सूरदास. प० 87 और 93

बुद्धिप्रधान होती है और इस शैली का रचना में सामान्य अन्वय करने पर अर्थ बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता, वह छिपा ही रहता है। बुद्धि लड़ाने पर ही अर्थ स्पष्ट होता है। "गुह्य बातों को दृष्टकूट के रूप में प्रकट करने की प्रणाली भी प्राचीन है। विद्यापति की पदावली, कबीर की उलटबासियाँ, अमीर खुसरो की पहेलियाँ, नाथ-पंथियों के कतिपय छन्द एवं पद, रासो के श्लेष, महाभारत के गूढ़ार्थ, वेद के सम्प्रश्न आदि दृष्टकूट शैली से मण्डित है। गोस्वामी तुलसीदास की सतसई में भी कई दोहे दृष्टकूट शैली के हैं। जो उद्देश्य इन काव्यों के दृष्टकूटों में है, लगभग वैसा ही सूरदास की साहित्य-लहरी के दृष्टकूटों का है।"[1] सूर की अन्य रचनाओं में छिटपुट रूप से इस शैली के निदर्शन मिलते हैं। "साहित्य-लहरी में यह शैली पुंजीभूत हो गई है। सूर का इस शैली के प्रयोग में यही उद्देश्य ज्ञात होता है कि कृष्ण लीला रस का अति शृंगारी रूप कहीं अपात्र के हृदय में पड़कर लांछन न बन जाए।"[2] इस रचना में सूर के काव्यत्व का कला पक्ष अपने अत्यन्त निखरे हुए रूप में मिलता है। सूर की मौलिक प्रतिभा का, उच्च कल्पना-शक्ति का तथा अद्भुत एवं चमत्कारपूर्ण श्लेषादि अलंकार-प्रयोग के कौशल का परिचय 'साहित्य-लहरी' में पूर्णरूपेण मिलता है। नायिका-भेद, विरह-वर्णन, मान-वर्णन इत्यादि शृंगारिक विषय ही इसमें मुख्य रूप से निरूपित हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में आगे चलकर विकसित होने वाली रीतिकालीन परम्परा का प्रारम्भिक स्वरूप इस रचना में बराबर मिलता है।

साहित्य-लहरी ग्रन्थ के विषयों में तारतम्य या पारस्परिक सम्बन्ध दृष्टि-गोचर नहीं होता। इसमें कृष्ण की बाल-लीला से सम्बन्ध रखने वाले पद भी हैं और नायिका-भेद के रूप में राधिका के मान आदि का वर्णन करने वाले पद भी। इसमें वियोगिनी प्रोषितपतिका नायिका का भी चित्र है और संयोगिनी विलासवती स्त्री का भी। इसी प्रकार स्वकीया और परकीया का भी वर्णन पाया जाता है। दो-तीन पदों में महाभारत की कथा के प्रसंगों का भी उल्लेख किया गया है। "केवल सात पद—106 से 112 को छोड़कर प्रत्येक पद में नायिका, अलंकार या रसावयवों का उल्लेख पद की अन्तिम पंक्ति में मिलता है।"[3] डॉ० भगीरथ मिश्र ने साहित्य-लहरी को 'शृंगार और नायिका-भेद' के ग्रन्थों में स्थान दिया है जबकि प्रभुदयाल मीतल इसे अलंकार ग्रन्थ मानते हैं। मीतल जी के अनुसार—"साहित्य-लहरी में नायिका-भेद का कथन होते हुए भी यह प्रधानतया अलंकार ग्रन्थ है। इसमें नायिका-भेद तो आरम्भ के 37 पदों में ही

1 डा० मुंशीराम शर्मा : सूरदास का काव्य-वैभव, पृ० 29-30
2. चन्द्रभान रावत : सूर साहित्य : नवमूल्यांकन, पृ० 115
3 डा० मनमोहन गौतम : सूर की काव्य-कला, पृ० 22

है, किन्तु अलंकारों का उल्लेख आरम्भ से लेकर अन्त तक के सभी पदों में हुआ है। प्रत्येक पद में एक अलंकार के साथ किसी अन्य काव्यांग का भी कथन है।"[1] डॉ० नगेन्द्र ने भी इसे अलंकार ग्रन्थ मानते हुए लिखा है—"साहित्य-लहरी दृष्टकूट और चित्रालंकारों का चक्रव्यूह है, इसलिए एक तरह से वह रीति के अन्तर्गत अलंकार परम्परा में आता है।"[2]

अन्य रचनाएँ

'साहित्य-लहरी', 'सूर सारावली' और 'सूरसागर' के अतिरिक्त 'सूर पच्चीसी', 'सेवाफल', 'सूर-साठी' तथा 'सूरदास के विनय आदि के पद' नामक रचनाएँ भी स्वतन्त्र और प्रामाणिक रचनाएँ मानी गई हैं। 'सूर पच्चीसी' 28 उपदेशात्मक पदों की पूर्ण और स्वतन्त्र रचना है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनुसार इसकी रचना सूर और अकबर की भेंट के समय हुई थी। 'सेवाफल' में भगवान की सेवा का माहात्म्य तथा फल वर्णित है। 'सूर साठी' की रचना सूर ने एक बनिए के निमित्त की थी, ऐसा 'वार्ता' साहित्य से सिद्ध होता है। 'सूरदास के विनय आदि के पद' में देव-प्रार्थना, वैराग्य, अर्चना, दिनचर्या आदि से सम्बद्ध पद हैं। इसलिए यह परस्पर स्वतन्त्र रचना के रूप में और समष्टि प्रकार से स्वतन्त्र संग्रह के रूप में समझे जाते है।

सूर की समस्त रचनाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि उनकी रचनाओं में केन्द्रीय स्थिति 'सूरसागर' की ही है। सूर का 'सूरसागर' उनका अमर कीर्ति-स्तम्भ है, जो युगों तक मानव-हृदय को अनुपम काव्यरस का आस्वादन कराता रहेगा। "यदि युग-सापेक्ष दृष्टि से तात्कालिक समाज को केन्द्र-बिन्दु बनाकर सूर-साहित्य का आकलन किया जाए तो स्पष्ट लक्षित होगा कि सूर ने बाह्य प्रपंच से मुक्त होकर अन्तर्लीन दशा में काव्य-सृष्टि की थी, किन्तु इसका वह अर्थ न समझ लिया जाए कि युग की सापेक्षता से सूर और उनका साहित्य सर्वथा बचा रहा। सूर ने भक्ति को माधुर्य-मण्डित करके प्रस्तुत करने का ध्येय बनाया हुआ था। यही उस युग की सबसे बड़ी माँग थी।"[3]

सूर की समस्त रचनाओं को एक साथ देखने से स्पष्ट होता है कि महाकवि होने के साथ-साथ उन्होंने कुछ सीमाएँ स्वीकार कर ली थीं। "साम्प्रदायिक दीक्षा उन पर सबसे बड़ा अंकुश था। यह सत्य है कि महाप्रभुजी का सम्पर्क हमारे महाकवि के लिए तत्त्वज्ञान के साथ एक साहित्य वरदान ही सिद्ध हुआ अन्यथा

---

1 डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल : महाकवि सूरदास, पृ० 24 से उद्धृत
2 वही, पृ० 24 से उद्धृत.
3. डा० हरबंश लाल शर्मा (सम्पादक) : सूरदास, पृ० 74

उन्हे अपनी दिशा का ज्ञान सहज न होता। पर इस वरदान के साथ कुछ आवरण भी थे जिन्हें अलग करके रखना सम्भव नहीं था। सूर की जितनी रचनाएँ परतन्त्र हैं या जहाँ कहीं भी उनमें वाह्य आचारों और समयों का अनुरोध है, उन्हें या वहाँ सर्वत्र इसी आवरण का प्रतिफल समझना चाहिए। ऐसी रचनाओं में या ऐसे स्थलों पर हमारे महाकवि की प्रतिभा छटपटाती-सी, आगे-पीछे देखती हुई-सी दिखाई पड़ती है। इसके विपरीत जो रचनाएँ सूरदास के स्वतन्त्र संरम्भ की निष्पत्ति हैं, उनमें सूर की आत्मानुभूति और प्रौढ़ अभिव्यक्ति उन्हें निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य का सूर्य प्रमाणित करती है।"[1]

सूरदास संगीतज्ञ के रूप में

सूरदास जी प्रतिभासम्पन्न कवि, भक्त होने के साथ-साथ संगीतज्ञ भी थे। उन्होंने संगीत-कला को भक्ति के आध्यात्मिक लोक में प्रवेश कराया। कवि ने कीर्तन के अन्तर्गत भगवान के गुण, लीला तथा नाम का कथन अनियमित स्वर से नहीं किया, अपितु उन्होंने उसको शास्त्रीय संगीत का रूप दिया। संगीत का प्रभाव जीव-मात्र पर समान रूप से पड़ता है। मनुष्य ही नहीं पशुओं को भी यह अत्यन्त प्रभावित करता है। मन की चंचल वृत्तियाँ संगीत के रस में मग्न होकर केवल श्रवण-शक्ति में ही केन्द्रीभूत हो जाया करती है। मन एकदम अन्य विषयों से हटकर एक विचित्र आह्लादिनी स्थिति में तल्लीन हो जाता है। इसी कारण सूरदास ने कीर्तन के रूप में इस मधुर कला को मन का निरोध करने के साधन के रूप में अपनाया। सूरदास ने 12वीं शताब्दी से चली आ रहे संस्कृत कवि जयदेव के कृष्ण-भक्तिपूर्ण संगीत को अपने समय में शुद्ध शास्त्रीय रूप दिया। यही कारण है कि उस काल के एक कवि ने सूरदास के संगीत-ज्ञान के विषय में लिखा है—

हाथ सितारी सूर करयो, मुख में मधुरा बोल।
कान्हूरे के रंग में, सूरदास को चोल॥

सूरदास जी की सहज संगीतप्रियता के अतिरिक्त उनके जीवन की वृत्ति भगवान कृष्ण के मंदिर में कीर्तन गाने की थी। वे श्रीनाथजी के प्रमुख कीर्तनिया थे। पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि के तीन अंग हैं—श्रृंगार, भोग और राग। राग में रागों के शास्त्रीय क्रम से कीर्तन का विधान आवश्यक है। सहज आत्माभिव्यक्ति के रूप में गीतों का प्रस्तुत करना जितना अभीष्ट था उससे भी अधिक उनका यह नैत्यिक और नैमित्तिक कर्तव्य था कि कीर्तन के लिए नए-नए पदों की रचना करें, उपयुक्त अवसर पर उसे शास्त्रीय रीति से गाएँ और मन्दिर के भक्त जनों

---

1 डा० शंकरदेव अवतरे : महाकवि सूर और भ्रमरगीत, पृ० 35

मे भक्ति या लीला का भाव आविर्भूत करें। तात्पर्य यह कि पुष्ट संगीत का ज्ञान, पुष्टिमार्गीय सेवा में राग-विधान की आवश्यकता और वृन्दावन के संगीतात्मक वातावरण के कारण सूर की पद-रचना में शास्त्रीय संगीत का सम्यक् सन्निवेश हो गया था। सूर के काव्य में शास्त्रीय राग-रागिनियों के ठीक स्वर-ताल प्राप्त है। "प्रत्येक पद के ऊपर पद-स्थित राग या रागिनी का नाम उल्लिखित है। शास्त्रीय संगीतज्ञ उन्हीं स्वरों में सफलतापूर्वक गाता और सूर के शास्त्रीय संगीत-ज्ञान की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता है। सूरसागर में इतने अधिक राग हैं कि उन्हे देखकर समस्त जीवन संगीत-साधना में अर्पित कर देने वाले आज के सगीतज्ञों को भी दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है।"[1]

संगीत-शास्त्रानुसार राग छः माने गए हैं—भैरव, कौशिक, हिंडोल, दीपक, मेघ और श्री। कहीं-कहीं कौशिक के स्थान पर 'मालकौस' का नाम मिलता है। रागिनियों की संख्या छत्तीस बताई गई है। सूरदास ने भी अपने पदों में राग-रागिनियों की संख्या की ओर संकेत किया है। सूरदास ने एक स्थल पर लिखा है—

मुरली हरि को भावै री।
छहों राग छत्तीसों रागिनि, इक इक नीकें गावें री।[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे वह संगीत-प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।"[3] "इस गायन में ऐसी कौन-सी रागिनी है, जो सूरसागर में न आई हो? कहा जाता है कि सूर के गान ऐसे राग और रागिनियों में हैं, जिनमें से कुछ के तो लक्षण भी अब प्राप्त नहीं हैं। ऐसी राग-रागिनियाँ या तो सूर की अपनी सृष्टि है या अब उनका प्रचार नहीं है।"[4] सूरसागर में हमें 87 राग-रागिनियाँ मिलती है। कई राग-रागिनियाँ तो अनेक पदों में पाई जाती हैं जबकि कुछ राग-रागिनियाँ केवल एक-एक पद में ही पाई जाती हैं।

बिलावल, सारंग, धनाश्री और मलार राग सूरदासजी को अधिक प्रिय थे। "इनमें भी बिलावल उनका अत्यन्त प्रिय राग था। सूरसागर का आरम्भ बिलावल से हुआ है और बिलावल में ही समाप्ति हुई है। यही नही सागर का प्रत्येक स्कन्ध केवल दशम को छोड़कर बिलावल से ही आरम्भ हुआ है। दशम स्कन्ध का परिचयात्मक आरम्भ सारंग राग से किया है। किन्तु लीला आरम्भ के

---

1 हरबंश लाल शर्मा (सम्पादक) : सूरदास, पृ० 153
2. सूरदास : सूरसागर (भाग पहला), पृ० 698, पद संख्या 1856
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सूरदास, पृ० 200
4. डा० मुन्शीराम शर्मा : सूर सौरभ, पृ० 383

लिए उसमें भी बिलावल ही चुना गया है।"[1] विनय के पद सूरसागर में सर्वप्रथम सकलित हैं। विनय का सर्वप्रथम पद द्रष्टव्य है जो कि बिलावल राग में है—

चरण कमल बन्दौं हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे, अंधे को सब कुछ दरसाई।

"यह पद ग्रन्थ का मगलाचरण है। बिलावल प्रातःकालीन राग है। इसके शुद्ध स्वर ईश-प्रार्थना के सर्वथा अनुकूल पड़ते हैं। इस राग की प्रकृति भी गम्भीर है अतः स्वरों की गम्भीरता पद-गत अर्थ के अनुरूप है।"[2]

सूर काव्य में उपर्युक्त रागों में से कुछ राग ऐसे है जो आजकल व्यवहार में प्रचलित नहीं हैं, जैसे—सानुत, देसाख, बैराटी, कर्नाट, देवगिरि आदि। कुछ राग ऐसे भी हैं जिनके संगीत की उत्तर और दक्षिण दोनों पद्धतियो में लक्षण उपलब्ध नही होते। "सूर ने होरी और धमार को भी एक राग-विशेष माना है; किन्तु होरी, धमार कोई राग नही है अपितु वसन्त के अवसर पर प्रयुक्त होने वाली एक गायन शैली है। धमार ताल भी होता है जिसमें 14 मात्राएँ होती हैं।"[3]

सूरदास के पदों में विषय और राग का सुन्दर विधान मिलता है। रागों की विविधता में भी सूरदास ने रागों की मूल प्रकृति का सम्बन्ध वर्ण्य-विषय और उसके रस से जोड़ रखा है। रागों की प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए हम सूरसागर के वर्ण्य-विषय को चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

1. ऐसे वर्णन जिनमें हर्ष, उल्लास और सामूहिक आनन्द की प्रधानता है। इनमें कृष्ण-जन्म, नाल-छेदन, जन्म-बधाई, व्रजोल्लास, कृष्ण का पालने झूलना, बाल-छवि-वर्णन, रास-लीला, श्रीकृष्ण-विवाह, वसन्त-लीला आदि प्रसंगों को सम्मिलित किया जा सकता है। ऐसे प्रसंगों मे सूरदास ने विषयानुकूल बिलावल, आसावरी, रामकली, धनाश्री, कल्यान, काफी, जैतश्री, जैजैवंती, कान्हरौ, गौरी, ललित, गुंडमलार, बिहागरा, नट, सोरठ, भैरव, भैरवी, नटनारायण, पूर्वी, बसन्त और मलार रागों का प्रयोग किया है। ये सभी राग आनन्द ध्वनि से युक्त है और लालित्य और सौरम्य की दृष्टि से मनोहारी हैं।

2. ऐसे वर्णन जिनमें क्रीड़ा, विनोद और लीला का प्राधान्य है। इनमें कृष्ण के खेल, माखन-चोरी, यमलार्जुन उद्धार, गोदोहन, गोचारण, छाक, कृष्ण के खेल के क्रम में किए हुए राक्षस-वध जैसे श्रीधर अंग-भंग, पूतना-वध, कागासुर, शकटासुर, अघासुर, तृणावर्त के वध तथा कालीदमन, जलक्रीड़ा, पनघट-लीला, दान-लीला, विहार और संयोग शृंगार के वर्णन आदि प्रसंगों को सम्मिलित किया

---

1 डा० भगवत स्वरूप मिश्र एवं विश्वम्भर अरुण : सूर की साहित्य साधना, पृ० 126
2 मनमोहन गौतम : सूर की काव्य कला, पृ० 274
3 डा० भाशा भता प्रसाद : सूरकाव्य और संगीत तत्त्व पृ० 54

जा सकता है। इन प्रसंगों के रागों में स्वरों का चापल्य और सौकुमार्य नहीं है, माधुर्य के साथ गाम्भीर्य की मात्रा है। ऐसे प्रसंगों मे सूरदास ने विषयानुकूल सारग, काफी, धनाश्री, गौडमलार, कल्यान, सोरठ, बिहागरा, नट, मलार, सुघराई, देवगांधार आदि रागों का प्रयोग किया है।

3. ऐसे वर्णन जिनमें शौर्य, दर्प और आतंक की प्रधानता है। इनमें दावानल-पान, गोवर्धन-धारण, श्रीराम का युद्ध, केशी-वध, कुवलया-वध, हस्ती-वध, द्विविद-वध, जरासंध-वध, शाल्व-वध, दन्तवक्र-वध, लक्ष्मण-युद्ध गमन आदि प्रसगों को सम्मिलित किया जा सकता है। इन प्रसंगों में वीर, रौद्र और भयानक रसों का समावेश किया गया है। रस के अनुरूप ही तीखे और कठोर स्वरों वाले और तीव्र गति वाले रागों का चयन किया गया है। ऐसे प्रसगों में सूरदास ने विषयानुकूल मारु, नट, कान्हरा, मेघ मलार आदि रागों का प्रयोग किया है।

4. ऐसे पद जिनमें दैन्य, चिन्ता, विवशता और शोक का प्राधान्य है। ये पद शास्त्रीय दृष्टि से करुण के अन्तर्गत भले न आवें पर उनमें शोक की मात्रा का आधिक्य होने के कारण करुणा भाव की ही प्रधानता होती है। इस वर्ग के प्रसंगो मे कृष्ण-जन्म के समय देवकी और वसुदेव की चिन्ता, ऊखल-बन्धन के समय गोपियों का विषाद, रास पंचाध्यायी मे कृष्ण के अन्तर्धान होने पर राधा का विषाद, गोपियों के विरह मे स्वप्न-दर्शन की अवस्था, गोपियों का विरह-निवेदन, उद्धव द्वारा कृष्ण के प्रति राधा की दीन-दशा वर्णन, व्रज जन दशा निवेदन आदि प्रसंगों को सम्मिलित किया जा सकता है। दैन्य भाव के अन्तर्गत विनय के पद भी आते हैं जिनमें भक्तवत्सलता, नाम-महिमा, विनती, अविद्या वर्णन आदि के प्रसंग हैं। इन पदों में कोमल राग-रागिनियों का प्रयोग किया गया है जिनमे 'केदारा' राग का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। केदारा की मीड़ बड़ी दर्द-भरी होती है। इसलिए करुणा-प्रधान पदों में इसका प्रयोग भावानुकूल है। केदारा के अतिरिक्त सूरदास ने इस वर्ग के पदों मे खंभावती, मलार, धनाश्री, जैतश्री, बिलावल, अड़ाना, सोरठ, भूपाली, कल्याण आदि रागों का प्रयोग किया है।

सूरदास ने लोकगीतों की धुन एवं भाषा-शैली को अपनाते हुए अनेक पदो की रचना की। उन्होंने लोक-धुनों को शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुरूप बना लिया। प्रत्येक प्रान्त मे भिन्न-भिन्न लोक-धुनें है। जिस प्रकार विद्यापति मे बिहार और बंगाल की लोक-धुनें मिलती है, उसी प्रकार सूरदास में ब्रज प्रान्त की लोक-धुनों का परिष्कृत रूप मिलता है। सोहर, सावन, होली, बिरहा, कजली, रसिया आदि प्रसिद्ध लोक-गीत हैं। सूर ने इन लोकगीतों की धुन का अनुसरण करते हुए अनेक पदों की रचना की है। जन्म-बधाई, सोहिलो, होली, बसन्त, विरह आदि के लोकगीतों को शास्त्रीत्र स्वरूप देने में सूर को पर्याप्त सफलता मिली है। सूरदास के काव्य में इन लोकगीतों के अनेक उदाहरण है। झूले और

होली के गीतों को ब्रज के लोकगीतों में विशेष स्थान प्राप्त है। सूरदास के निम्नलिखित होली-गान पर लोकगीतों की छाप स्पष्ट दिखाई देती है—

हो हो हो हो हो हो होरी
खेलत आत सुख प्रीति प्रगट भई, उत हरि इतहिं राधिका गोरी।
बाजत ताल मृदंग झाँझ डफ, बीच-बीच बाँसुरि-धुनि थोरी॥
हो हो० ॥
गावत दै दै गारि परस्पर, उत हरि इत वृषभानु किसोरी।
मृगमद साख जवादि कुमकुमा, केसरि मिलै-मिलै मथि धोरी॥
हो हो० ॥
गोपी ग्वाल गुलाल उड़ावत, मत फिरैं रति-पति मनु धोरी।
भरित रंग गति नागति राजति, मनहुँ उमंगि बेला बल फोरी॥
हो हो० ॥[1]

सूरदासजी ने संगीत, छन्द और लोकगीतों के गुणों को ऐसा संगठित किया है कि उसका एक निराला स्वरूप बन गया है। "सूरदास ने साधारण जन-समुदाय और कलाप्रेमी भक्त-समाज दोनों की रुचियों को ध्यान में रखकर लोकगीतों और शास्त्रीय रागों की रचना की। सूर के अधिकांश पद शास्त्रीय रागों के शिल्प-विधान से अलंकृत हैं किन्तु उनके कुछ गीत शुद्ध लोकगीतों के रंग में रँगे हुए हैं।"[2]

सूर-काव्य में अनेक संगीत वाद्यों के नाम स्थान-स्थान पर आए हैं। कुछ तो अत्यन्त प्राचीन हैं और उनको आज संगीत समाज में देख भी नहीं पाते। सूर-काव्य में कृष्ण-जन्म तथा उससे सम्बन्धित उत्सवों, श्याम, श्यामा, गोप और गोपियों की विनोद-क्रीड़ा, वसन्त, फाग, होली, हिंडोल आदि विविध उत्सवों तथा रास-लीला, जल-विहार-क्रीड़ा, वर्षा आदि प्रसंगों में बार-बार निम्नलिखित वाद्य यन्त्रों का उल्लेख किया गया है—

पंच शब्द, रूंज, मुरज, ढफताल, बाँसुरी, झालर, बीन, रबाब, किन्नरी, अमृतकुंडली, यंत्र, सुरमंडल, जलतरंग, पखावज, आवज, उपंग, सहनाई, सारंगी, तान-तरंग, कंसताल, कठताल, सृंग, मुँहचंग, खंजरी, पटह, मुरली, बीना, झाँझ, मृदंग, चंग, डफ, ढोलक, दुंदुभी, मंजरी, आनक, महुवरि, डिमडिम, संख, निसान, भेरी इत्यादि। "यद्यपि उस समय सितार और तबले का प्रचलन संगीत समाज में हो गया था, परन्तु सूरदास ने इन्हें नहीं अपनाया।"[3]

वाद्य यन्त्रों से सम्बन्धित सूर की कुछ पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप नीचे उद्धृत

---

1 सूरसागर (भाग दूसरा), पद सं० 3486
2 डा० गोविन्द राम शर्मा : सूर की काव्य साधना, पृ० 90
3 लक्ष्मीनारायण गर्ग : निबन्ध संगीत, पृ० 544

की जा रही है

पंचमि पंच शब्द करि साजे सजि वादित्र अपार।
संज, मुरज ढफताल बाँसुरी झालर को झंकार॥
बाजत बीन रबाव किन्नरी अमृत कुंडली यंत्र।
सुर सुरमण्डल जल तरंग मिल करत मोहनी मंत्र॥
विविध पखावज आवज संचित बिच बिच मधुर उपंग।
सुर सहनाई सरस सारंगी उपजत तान तरंग॥
कंसताल कटताल बजावत शृंग मधुर मुहचंग।
मधुर खंजरी पटह प्रणव मिल सुख पावत रतभंग॥
निपटन केरी श्रवण न धुनि सुनि धीर न रहे ब्रजबाल।
मधुर नाद मुरली को सुन के भेटे श्याम तमाल॥[1]

"रास प्रकरण में श्रीभागवत में जहाँ केवल वीणा और दुंदुभि का वर्णन आता है, वहाँ सूर ने काल के अनुसार अनेक प्रकार के वाद्यों की नामावलि गिनायी है। होली के अवसर पर तो 'सबही भए इकसार अहो हरि होरी है' के अनुसार अनेक प्रकार के वाद्यों से ब्रज मण्डल गूँज उठता है। इस प्रकार स्वर-वाद्य और ताल-वाद्य दोनों प्रकार के वाद्यों से सूर का काव्य मुखरित है।"[2]

सूरदास के काव्य में तालों का उल्लेख प्रायः नगण्य-सा ही है। सूर के पदों मे केवल एक ताल, झपताल, ध्रुव ताल और धमार ताल का ही उल्लेख हुआ है—

'छंद ध्रुवनि के भेद अपार। नाचति कुँवरि मिले झपताल'[3]

हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में बहुत ताल हैं, लेकिन सूर के सूरसागर के पदों में केवल पाँच पदों के ही ऊपर ताल का नाम अंकित है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनके अन्य सभी पद जिनमें ताल का उल्लेख नहीं है, ताल में बँधे नही हैं। सूर के सारे पद राग और ताल में बँधे हुए हैं। सूर-काव्य में प्रयुक्त पदों के ऊपर जिन तालों का उल्लेख हुआ है, वे प्रायः समीक्षा करने पर खरे उतरते हैं अर्थात् पदों के ऊपर लिखित तालों में ही वे पद सुविधापूर्वक, सुगमता से बिना अधिक खींच-तान किए गाए जा सकते हैं।

सूर के पदों की भाषा में संगीतमयता और शब्द-माधुरी प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। विविध राग-रागिनियों को अपनाते हुए उन्होंने तदनुरूप शब्दावली का प्रयोग किया है। मधुर, लयपूर्ण और नादभरी शब्दावली के प्रयोग से सूर

---

1. सूरसारावली (श्री वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित), पृ० 37, छंद सं० 1002 से 1006
2. डा० भगवत स्वरूप मिश्र एवं विश्वम्भर अरुण : सूर की साहित्य-साधना, पृ० 127
3. सूरसागर (भाग प्रथम), पृ० 672, पद सं० 1798

की भाषा अधिक प्रवाहमयी एवं हृदयग्राही दृष्टिगत होती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद में मलार राग के अनुकूल भाषा का लालित्य, सुकुमारता एवं नाद-सौन्दर्य गोपियों की हृदयगत वेदना को अनायास ही व्यक्त करने में समर्थ है—

निसि दिन बरषत नैन हमारे।
सदा रहति बरषा रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे।।
दृग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे।।
आँसू सलिल सबै भइ काया, पल न जात रिस टारे।
सूरदास-प्रभु यहै परेखौ, गोकुल काहें बिसारे।।[1]

संगीत के दृष्टिकोण से ब्रजभाषा विशेषतया उपयोगी है।[2] सूर का विपुल साहित्य ब्रजभाषा में ही है। संगीत-तत्त्व की रक्षा के लिए सूर प्रसाद-गुण-प्रधान शब्दावली को अधिक ग्रहण करते हैं, किन्तु जब संस्कृत-गर्भित शब्दावली का ग्रहण करते हैं तो उन पर स्वरों के अनुरूप ऐसी रंगत लाते हैं कि वह भी नाद-सौन्दर्य के अनुरूप हो जाती है। जैसे—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु-तन-मंडित मुख दधि लेप किए।

इसमें संस्कृत-गर्भित शब्दावली का बाहुल्य है। किन्तु 'शोभित' को 'सोभित' 'रेणु' को 'रेनु' बनाकर उसमें ब्रजभाषा का मार्दव भर दिया है।

सूरदास ने सर्वत्र रस, भाव, राग और समय का ध्यान रखते हुए संगीत की रचना की है। "सूरदास से पूर्व और उनके पश्चात् के न जाने कितने भक्तों ने सूरदास की ही भाँति अपनी वाणी के विलास से भगवान का यशगान किया है, न जाने कितनों ने तानपूरे सँभाल कर मंदिरों को अपने संगीत के स्वरों से गुंजायमान कर दिया है, किन्तु आज उनकी क्षीण प्रतिध्वनि मात्र ही सुनाई पड़ती है। बहुतों की वाणी नीरवता में लीन हो चुकी है। सूरदास ही ऐसे हैं जिन्होने अमरत्व प्राप्त कर लिया है। समय के साथ ही उनकी वाणी भी तीव्र होती जाती है। इसका कारण यही है कि सूर ने राग-रागिनियों के रस-भाव को देखकर उसकी यथार्थ अनुभूति पाकर तदनुसार और तदनुकूल गीत-पद्य का चुनाव किया है। कवि ने तत्कालीन प्रचलित शास्त्रीय संगीत के रागों में जो पद गाए

---

1 सूरसागर, पद सं० 3854

2 "भारत की आर्य बोलियों में स्वरध्वनि की बहुलता थी, ब्रजभाषा भी इस स्वर-बहुलता के कारण (क्योंकि इसके सब शब्द स्वरांत होते थे) विशेषतया श्रुति मधुर भाषा है।" हजारी प्रसाद द्विवेदी : निबन्ध-संग्रह (संकलनकर्ता), पृ० 110-11

हैं उनके शब्द, अर्थ, भाव और रस और रागों और रागिनियों के रूप, रस और भाव के साथ संवादित हुए हैं। इसी गुण के कारण सूर का काव्य और संगीत मानव-जीवन के साथ एकाकार हो गया है। सूर की प्रतिभा ने काव्य और संगीत का इतना सुन्दर समन्वय किया है कि वह काल की कठोर दीवारों को बेंधकर आज भी अपना स्वर मुखरित कर रहा है और सदैव करता रहेगा।"[1]

1. डा० ऊषा गुप्ता : हिन्दी के कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य में संगीत, पृ० 236

नृत्य : परिभाषा और स्वरूप

नृत्य शब्द की व्युत्पत्ति नृ धातु से स्वीकार की जाती है। नृ शब्द बहुत प्राचीन है और इसका प्रयोग वैदिक साहित्य में भी देखने को मिलता है। पाणिनि से पूर्व भारत में यास्क मुनि नामक व्याकरणाचार्य ने अपने 'निरुक्त' नामक ग्रन्थ में नृ शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या इस प्रकार की है—

"व्राहिष्ठो वां स्वानां स्तोमो इतो हुवन्नरा।" ऋ० 8/26/56

"नरा मनुष्या नृत्यन्ति कर्मसु" निरुक्त 5—1

अर्थात् नर मनुष्यों को कहते हैं, क्योंकि ये 'नृत्यन्ति कर्मसु' काम करने में नाचते रहते हैं, काम करते समय अपने शरीर को खूब हिलाते-डुलाते हैं, इधर-उधर फेंकते रहते हैं। भाष्यकार पतंजलि ने तो नृत्य का अर्थ व्यापक करते हुए इस शब्द का सम्बन्ध मनुष्य जाति के अतिरिक्त पशु-पक्षियों तक माना है। महाभाष्य के अध्याय संख्या 7/3/87 में उन्होंने लिखा है—"तथा प्रियां मयूरः प्रनर्तर्तीति" अर्थात् अपनी प्रियतमा को देखकर मोर नाचता है।

भारतवर्ष में नृत्य को संगीत कला के अन्तर्गत रखा गया है।

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।[1]

गीत वाद्यं नर्तनं च त्रयं संगीतमुच्यते।[2]

गीत वादित्र नृत्यानां त्रयं संगीतमुच्यते।[3]

अर्थात् गायन, वादन और नृत्य ये तीनों ही मिलकर संगीत कहे जाते हैं। "पाणिनि से पूर्व भारत में गायन, वादन और नर्तन की संयुक्त परम्परा थी। केवल नर्तक नाम का कोई व्यक्ति नहीं हुआ करता था। नर्तक का गायक और वादक भी होना परम अनिवार्य था और उसकी कला को गायन, वादन अथवा नर्तन न कहकर 'तौर्य त्रिकम्' कहा जाता था।"[4]

भरतमुनि ने भी अपने 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट कहा है कि जब गीत की भावों द्वारा अभिव्यक्ति की जाती है तो वह नृत्य बन जाता है। "उसके अनुसार नृत्य में गायन और वादन का सम्मिलित होना ही अनिवार्य नहीं, गायन में ध्रुवाओं का

---

1 शाङ्‌र्गदेव : संगीत-रत्नाकर (प्रथम भाग), पृ० 6, छं० सं० 21

2 दामोदर पंडित अनुवादक विश्वम्भरनाथ भट्ट : संगीत दर्पण, पृ० 5, छं० सं० 3

3 अहोबल पंडित भाष्यकार पं० कालिन्द जी : संगीत-पारिजात, पृ० 6, छं० सं० 20

4 तीर्थराम आजाद : कत्थक दर्पण, पृ० 180

प्रयोग होना भी अनिवार्य अंग कहा गया है।''''''काव्य, संगीत तथा नृत् तत्त्व मिलकर 'नृत्य' नामक क्रिया की सृष्टि करते हैं।"[1]

प्राचीन शास्त्रों में नटन या नर्तन के तीन भेद माने गए हैं—नाट्य (रस प्रधान नर्तन), नृत्त (ताल प्रधान नर्तन) और नृत्य (भाव प्रधान नर्तन)।

नाट्य—किसी वाक्य के अर्थ को अभिनय द्वारा प्रगट करके जो रस उत्पन्न किया जाता है, उसे नाट्य कहते हैं। नाट्य का उद्देश्य है रस-संचार और साधन हैं वाक्य, अर्थ और अभिनय। नाट्य के लिए तालबद्ध होना या संगीतमयता उसका अनिवार्य अंग नहीं हैं। "नृत्य बुद्धि का चमत्कार है, तो नाट्य हृदय का।"[2] कत्थक नृत्य का 'गत-भाव' नाट्य के अन्तर्गत ही माना जाता है।

नृत्त—भावाभिनय से रहित जो नटन क्रिया होती है उसे नृत्त कहते हैं।

भावाभिनयहीनं नृत्तमित्यभिधीयते।

—अभिनय दर्पण

नृत्त में ताल और लय की प्रधानता होती है। अभिनय दर्पण में ही कहा गया है—

नृत्त ताललयाश्रम्

अर्थात् ताल और लय के अनुसार नाचना। अर्थात् भावनाओं और अभिनय पर बल न देकर केवल अंगों और पद-संचालन द्वारा लयकारी दिखाकर नृत्य मुद्राओं द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न करना नृत्त कहलाता है। "शिवजी का तांडव भी मूलत: नृत्त ही है।"[3] कत्थक नृत्य में नाचे जाने वाले ठाट, टुकड़े, परन, तत्कार आदि इसी नृत्त के अन्तर्गत आते हैं।

नृत्य—नाट्य और नृत्त इन दो कलाओं के मिलाने से जिस तीसरी कला का जन्म होता है उसे नृत्य कहते हैं। अर्थात् जब एक ही शब्द का अभिनय ताल और लय के साथ किया जाए तो वह नृत्य कहलाता है। नृत्य रस और भावों की अभिव्यंजना से युक्त होता है जैसा कि अभिनय दर्पण में कहा गया है—

रसभावव्यजनादियुक्तं नृत्यमितीर्यते।

कत्थक शैली मे ठुमरी, भजन या कोई पद गाते समय जो भावों का प्रदर्शन किया जाता है, वह नृत्य के अन्तर्गत आता है।

नाट्यशास्त्रीय परम्परा के ग्रन्थों में नृत्यकला के अधिष्ठाता भगवान शंकर और माता पार्वती को माना है। "ब्रह्मा की शक्ति से प्रभावित प्रकृति चेतना-विहीन होती है, नृत्य का प्रादुर्भाव शिव की इच्छा से ही हो सकता है। जब

1. तीर्थराम आजाद : कत्थक दर्पण, पृ० 44
2. तीर्थराम आजाद : कत्थक शृंगार, पृ० 7
3. डा० पुरुदाधीच : कत्थक नृत्य शिक्षा, पृ० 38

शिवजी नृत्य करते हैं तो समस्त ब्रह्माण्ड में चेतना की लहर दौड़ जाती है और समस्त तत्त्व उसके चारों ओर नृत्य करने लगते हैं।"[1] देवाधिदेव महादेव की नृत्य मुद्रा अनन्त यथार्थ और सत्य की प्रतीक है जिसमें सब देशों तथा काल के भक्त, दार्शनिक, विचारक, प्रेमी, योगी, कलाकार आदि अपने-अपने आदर्श के दर्शन कर सकते हैं। "शिव की चारों मुद्राओं से क्रमशः ब्रह्माण्ड की सृष्टि, रक्षा, मुक्ति व संहार का आभास होता है। डमरू से सृष्टि, अग्निनेत्र से संहार, फैले हुए हाथ से रक्षा का अभय दान तथा उठे हुए पैर से मोक्ष प्राप्ति मानी गयी है।"[2]

ताण्डव और लास्य

रसादि की दृष्टि से नृत्य के नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दो भेद माने गए है—ताण्डव और लास्य। ताण्डव पुरुषों का नृत्य है क्योंकि पुरुषों के अंग-चापल्य, वीरत्व, क्रोध तथा रौद्र रस की भावनाएँ दर्शाने के लिए यह बहुत उपयुक्त है—

वीर रसे महोत्साहो पुरुषो यत्र नृत्यति।
रौद्र भाव रसौत्पत्तिस्त ताण्डवमिति स्मृतं।[3]

ताण्डव नृत्य विश्व की पंच क्रियाओं—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और आविर्भाव के अलावा आसुरी भावना पर दैवी भावना की विजय और उससे उत्पन्न आनन्द का द्योतक है।[4] ताण्डव के सात भेद माने गए हैं—1. आनन्द ताण्डव, 2. संध्या ताण्डव, 3. उमा ताण्डव, 4. गौरी ताण्डव, 5. कालिका ताण्डव, 6. त्रिपुर ताण्डव और 7. संहार ताण्डव।

शृंगार, करुण आदि रसों से युक्त सुकोमल अंग-संचालन द्वारा लालित्यपूर्ण नृत्य जो स्त्रियों द्वारा करने योग्य हो उसे लास्य कहते हैं—

लास्यते सुकुमारिणं गमकध्वनिवर्धानि।
इशशब्दास्य: प्रसन्नस्योमुखरागो भवेदिधा॥[5]

लास्य का मुख्य रस शृंगार है, अतः उसमें प्रेम, क्रीड़ा और अवयवों का लावण्यमय संचालन है। स्त्री शृंगार और कोमलता की प्रतीक है इसलिए उसके द्वारा केवल लास्य नृत्य का प्रदर्शन ही लोकरंजक होता है। लास्य के तीन भेद माने गए हैं—1. विषम लास्य, 2. विकट लास्य और 3. लघु लास्य।

1 आनन्द के० कुमार स्वामी : शिव का नृत्य, पृ० 66
2 गायनाचार्य अविनाश चन्द्र पाण्डेय अनुवादक जयसिंह एस० राठौर : कथकलि नृत्य-कला पृ० 18
3 आचार्य भरत : संगीत नृत्यकार
4 संगीत (नृत्य अंक) जनवरी-फरवरी 1941, पृ० 71
5 शार्ङ्गदेव : संगीत-रत्नाकर

नृत्य के आधार

मुद्रा

मुद्रा शब्द संस्कृत की 'मुद्' धातु से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है—आनन्द। इसमें 'रा' (अर्थात् आदान, देना) प्रत्यय जोड़ देने पर 'मुद्रा' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ शास्त्रों में इस प्रकार बताया है—'मुद्रा हाथों की वह भंगिमा विशेष है जिससे देवता प्रसन्न होते हैं और उपासक काम-क्रोधादि शत्रुओं से मुक्त हो जाता है।'

नृत्य में मुद्रा शब्द का अर्थ है—अंगों की विशेष स्थिति या चेष्टा। नृत्य करते हुए अंग-प्रत्यंग के संचालन से उत्पन्न हुई आकृतियाँ मुद्रा कहलाती है। मुद्रा नृत्य कला का प्राण है। इसे नृत्य की भाषा भी कहा जाता है। मुँह से एक भी शब्द निकाले बिना सम्पूर्ण कथानक को व्यक्त करने की अनुपम शक्ति मुद्रा मे ही है। मुद्रा दो प्रकार की होती है—भाव मुद्रा और अनुकरण मुद्रा। भाव मुद्रा हृदय की भावनाओं की प्रतीक है। भिन्न-भिन्न मनोविकारों की स्पष्ट छाप को नेत्र, मुख, भवों आदि द्वारा प्रस्तुत करना भाव मुद्रा के अन्तर्गत आता है। अनुकार्य की रूपरेखा और स्वभाव को हाथ तथा अन्य अंगों की सहायता से प्रदर्शित करना अनुकरण मुद्रा कहलाती है। साधारण बोल-चाल में मुद्रा का अर्थ हस्तमुद्रा ही लिया जाता है। पैरों के द्वारा जो मुद्राएँ बनती हैं, उन्हें 'चारी' कहा जाता है। हाथ के संचालन की दृष्टि से मुद्रा के दो भेद हैं—असंयुक्त और संयुक्त। एक हाथ से बनने वाली मुद्रा को असंयुक्त और दोनों हाथों से बनने वाली मुद्रा को संयुक्त मुद्रा कहते हैं। भरत के मतानुसार असंयुक्त मुद्राएँ चौबीस और संयुक्त मुद्राएँ अट्ठाइस हैं।

अंग-संचालन

पंचतत्त्व से बने हुए प्राणी के शरीर को हम अंग के नाम से पुकारते है, परन्तु नृत्य साहित्य में अंग का अर्थ कुछ दूसरा ही है। नृत्य में शरीर के विभिन्न अवयवों के संचालन द्वारा उत्पन्न हुई शरीर की विविध आकृतियों को अंग कहा जाता है। अंग के दो रूप माने गए हैं—आरोही अंग और अवरोही अंग। आरोही अंग में शरीर का संचालन नीचे से ऊपर की ओर होता है और अवरोही में ऊपर से नीचे की ओर।

पाद-विक्षेप

पैरों का ठीक संचालन अथवा पाद-विक्षेप नृत्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। नाट्यशास्त्र में पाद-विक्षेप के दो अंग बताए गए हैं—चारी और गति-प्रचार।

पैरों को अनेक प्रकार से चलाते हुए भिन्न-भिन्न मुद्राएँ बनाने को चारी कहते हैं। चारी के मुख्य दो प्रकार हैं—भूमिचारी और आकाशचारी। जब दोनों पैर पृथ्वी पर स्थित हों तो उसे भूमिचारी कहते हैं और जब एक पैर पृथ्वी पर और एक उठा हुआ हो तो उसे आकाशचारी कहते हैं। भूमिचारी के सोलह और आकाशचारी के चौदह स्वरूप माने गए हे।

गतिप्रचार का सम्बन्ध लय से है। आज गतिप्रचार का सम्बन्ध सीधा घुंघरू से माना जाता है। लय प्रकृति का विधान है। इसलिए साधारण श्रोता लय से शीघ्र प्रभावित होता है। घुंघरू का काम लय से सम्बन्ध रखता है। इसलिए घुँघरुओं का आजकल नृत्य में महत्त्वपूर्ण स्थान बनता जा रहा है।

भृकुटि और नेत्र संचालन

नृत्य में नेत्र और भृकुटि संचालन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव-सौन्दर्य में नेत्रों का विशाल होना, उसकी चंचलता आदि विशेषताएँ विशेष महत्त्व रखती है। नेत्र सौन्दर्यवर्धक होने के साथ-साथ भावों को व्यक्त करने का कार्य भी करते है। केवल आँखों को देखकर ही हम भय, आश्चर्य, रुदन, प्रसन्नता आदि भावों को जान सकते हैं। नेत्राभिनय के महत्त्व को देखते हुए आचार्यों ने आठ प्रकार के दृष्टि-भेद माने है—सम, साची, प्रलोकित, आलोकित, निमीलित, उल्लोकित, अनुवृत और अवलोकित।

भौंह का मानव-सौन्दर्य में अपना स्थान है। विभिन्न भावों की समुचित ससृष्टि के लिए भ्रुव-संचालन की क्रियाओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य भरतमुनि ने भौंह की सात क्रियाएँ बतलाई हैं—सहज, उत्क्षेप, पातन, भृकुटि, चतुर, कुंचित और रेचित।

ग्रीवा तथा छाती का संचालन

नृत्य में नेत्र और भृकुटि संचालन के साथ-साथ ग्रीवा (गर्दन) तथा छाती का सचालन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। ग्रीवा हमारे समस्त क्रिया-कलापों व अंग-संचालन की मूल है। अभिनय-दर्पण में ग्रीवा-संचालन के चार भेद बतलाए गए है—सुन्दरी, तिरश्चीना, परिवर्तो और प्रकम्पित।

यद्यपि छाती का प्रयोग शास्त्रीय नृत्य में बहुत कम होता है, फिर भी कभी-कभी श्रृंगार-भावना और प्रेम का आवेग प्रदर्शित करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। छाती-संचालन की क्रिया कठिन है क्योंकि थोड़े-से बेढंगे संचालन से अश्लीलता उत्पन्न हो सकती है।

करण

नृत्य करते समय नर्तक जब कोई भी मुद्रा बनाकर सम पर बिना हिले-डुले चुपचाप खड़ा हो जाता है तब उसे करण कहते हैं। दूसरे शब्दों में किसी भी क्रिया को करने में शरीर की जो प्रथम बनावट होती है, उसे करण कहा जाता है। यद्यपि स्थिति और गति के आधार पर इसके असंख्य भेद हो सकते हैं, परन्तु शास्त्रों में मान्य करणों की संख्या 108 है जिनका विस्तृत विवरण आचार्य भरत-मुनि के नाट्य-शास्त्र के चतुर्थ अध्याय में दिखाया गया है। भगवान शंकर के ताण्डव नृत्त का आधारभूत तत्त्व यही करण ही है।

अंगहार

करण की संचालन-क्रिया को अंगहार कहते हैं अर्थात् नर्तक जब अपने अंगों के माध्यम से विभिन्न प्रकार के भावों का प्रदर्शन करता है, तब वह अंगहार कहलाता है। अंगहार का निर्माण करणों के योग से ही होता है। दो करणों के योग से एक 'मातृका' का निर्माण होता है और तीन या चार मातृका के योग से एक अंगहार निर्मित होता है। शास्त्रीय नृत्यों में कम से कम दो करण और दो अंगहार तथा अधिक-से-अधिक 9 करण 9 अंगहार होते हैं। इससे कम या अधिक करण अथवा अंगहार होने से वह नृत्य अशास्त्रीय माना जाएगा। अंगहार में थोड़े-से करण ही प्रयोग में आते हैं। इसमें से किसी करण का अधिक और किसी का प्रयोग बहुत कम होता है। आचार्य भरतमुनि ने अंगहारों की संख्या 32 बतलाई है, जिनका वर्णन नाट्य-शास्त्र के चतुर्थ अध्याय में प्राप्त होता है।

गत

गत का अर्थ है गति अथवा चाल। नर्तक जब नृत्य करते हुए विभिन्न प्राकृतिक अवस्थाओं का अनुकरण करते हुए तथा भावों का अभिनय करते हुए जो विभिन्न प्रकार की चालें चलता है, उसे गत या गति कहते हैं। गत के बोल साधारण होते हैं, इसमें टुकड़ा, तिहाई आदि नहीं होते, केवल लय की ही प्रधानता होती है। नर्तक गतों के माध्यम से धार्मिक लीलाओं से कथानक लेकर उनका नृत्य द्वारा प्रदर्शन करता है। नाट्य-शास्त्र के 13वें अध्याय में गत-प्रकारों पर विस्तार से प्रकाश डाला हुआ है।

अभिनय

अभिनय शब्द संस्कृत भाषा की 'नी' (नय) धातु से बना है जिसमें 'अभि' उपसर्ग और 'अच' प्रत्यय जोड़ने से इस शब्द की निष्पत्ति होती है। 'अभि' का अर्थ है—की ओर और नय का अर्थ है—ले जाना। अर्थात् अभिनय

का अर्थ हुआ—मुख्य भावों की ओर दर्शक को ले जाना। जब नर्तक किसी भी पात्र विशेष के कार्य-कलापों का अनुकरण द्वारा प्रदर्शन करता है तो उसे अभिनय कहते हैं। प्राचीन शास्त्रों में अभिनय के चार प्रकार बताए गए हैं—आंगिक अभिनय, वाचिक अभिनय, अहार्य अभिनय और सात्त्विक अभिनय। इन चार प्रकार के अभिनय-भेदों से ही नाट्य-प्रयोग सम्पन्न होता है और नाट्य के प्राण-रूप 'रस' का उदय होता है। यूँ तो अभिनय के चारों ही प्रकार नाट्य की शोभा को बढ़ाने वाले हैं और मिल-जुलकर ही कार्य करते हैं, फिर भी तीनों नटन (नर्तन) भेदों में से प्रत्येक में किसी एक की ही प्रमुखता रहती है जैसे नृत्त मे आंगिक अभिनय की, नाट्य में वाचिक अभिनय की और नृत्य में सात्त्विक अभिनय की।

संगीत

संगीत एक अन्विति है जिसमें गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का समावेश है। इसीलिए तो कहा गया है कि—

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।[1]

पाणिनि से पूर्व भारत में गायन, वादन और नर्तन की संयुक्त परम्परा थी। केवल नर्तक नाम का कोई व्यक्ति नहीं हुआ करता था। नर्तक का गायक और वादक भी होना परम अनिवार्य था और उसकी कला को गायन, वादन अथवा नर्तन न कहकर 'तौर्यत्रिकम्' कहा जाता था। गायन और वादन के बिना नृत्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। "नृत्त तो केवल वादन के द्वारा अभिव्यक्त हो सकता है, किन्तु नृत्य के लिए गायन और वादन दोनों ही बातें आवश्यक हैं। नृत्य में भावों का प्रदर्शन किया जाता है। भाव, शब्दों के अर्थ स्पष्ट करने के लिए बनाए जाते हैं और शब्दों से गीत की रचना होती है। गीत, गायन के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। साथ ही गायन में वाद्य-यन्त्र भी बजाए जाते है। अतः नृत्य अपने तकनीक के रूप में प्रारम्भ से ही गायन और वादन से समन्वित है। उस समन्वय में यदि गायक और वादक अपना सहयोग न दें तो नृत्य किया ही नहीं जा सकता। अतः नृत्य की चाहे कोई भी शैली हो, तकनीकी, सामाजिक, कलात्मक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से गायन और वादन की कला का सहयोग उसके लिए परम आवश्यक ही नहीं अपितु उसका अविभाज्य अंग है।"[2]

---

1. शाङ्र्गदेव : संगीत रत्नाकर (प्रथम भाग) पृ० 6, छं० सं० 21
2. तीर्थराम आजाद : कत्थक दर्पण, पृ० 181-82

लय

लय शब्द का अर्थ है—संयोग, एकरूपता, मिलन। जब नृत्य करते समय किसी नर्तक की ततकार, तबले के ठेके से मिल जाए अर्थात् एकरूप हो जाए तो हम कहते हैं कि अब नर्तक ने लय पर अधिकार प्राप्त कर लिया है। लय तीन प्रकार की होती है—द्रुत लय, मध्य लय और विलम्बित लय। द्रुत का अर्थ शीघ्र गति है। क्रिया विच्छेद के एक निश्चित मान को आधार मानकर, जिसमें काल-गति शीघ्रता से हो, वह द्रुत लय है। द्रुतलय के द्विगुण विश्रांति काल को मध्य लय कहते है। मध्य लय के द्विगुण-काल को विलम्बित लय कहते हैं। परन्तु जब बड़े-बड़े नृत्यकार विशेष रूप से अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं तो उन्हें उपरोक्त तीन लयों के अतिरिक्त और भी लयों की आवश्यकता पड़ती है। उन्होंने अपने लिए अन्य लयों का निर्माण किया जैसे अति विलम्बित लय, तिगुन लय, चौगुन लय, अठगुन लय, आड़ी लय, कुआड़ी लय, विआड़ी लय आदि।

ताल

भारतीय संगीत और नृत्य का भव्य भवन ताल की सुदृढ़ आधारभूमि पर ही प्रतिष्ठित है, जैसा कि संगीत रत्नाकर में कहा गया है—

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्।

अर्थात् गायन, वादन व नर्तन—ये तीनों ही क्रियाएँ ताल पर आधारित हैं।

ताल लय को दर्शाने की क्रिया है। लय को काल तथा क्रिया से नियन्त्रित करने पर ताल का उद्भव होता है। लय स्वयं एक व्यापक एवं अखण्डित क्रिया है। इसको वांछित अन्तराल में बाँधकर क्रिया से दर्शाना ही ताल है। ताली शब्द जो 'ताल' से निकला है, लय को दर्शाने की क्रिया का सूचक है।

'ताल काल क्रिया मानम्' के अनुसार ताल समय के माप को कहते हैं। कुछ विशेष मात्राओं के अवकाश में नियमित की हुई दोनों हाथ के सयोग से अथवा किसी ताल वाद्य द्वारा समय नापने को 'ताल' की संज्ञा दी गई है। नृत्य-कला में भाव और मुद्राओं के अतिरिक्त ताल, लय और मात्रा का ज्ञान आवश्यक है। बिना इसके नृत्य का अभ्यास बिल्कुल व्यर्थ हो जाता है। जिस प्रकार बिना व्याकरण जाने शुद्ध भाषा नहीं होती, उसी प्रकार बिना ताल के नृत्य भी शुद्ध नहीं हो सकता। ताल ही नृत्य का प्राण है।

ताल के दस प्राण अथवा अंग होते हैं—1. काल, 2. मार्ग, 3. क्रिया, 4. अंग, 5. ग्रह, 6. जाति, 7. कला, 8. लय, 9. गीत और 10. प्रस्तार।

वेश-भूषा और रूप-सज्जा

कला का मूल उद्देश्य सौन्दर्य-भावना को उद्दीप्त करना है वेश भूषा

और रूप-सज्जा एक प्रकार से मानव-आकृति को सौन्दर्य प्रदान करने के साधन हैं। प्रत्येक पात्र की वेशभूषा युग की वेशभूषा के अनुकूल होनी अनिवार्य है और उस पात्र की रूप-सज्जा भी उसी के अनुसार होनी चाहिए। पात्र की वेशभूषा और रूप-सज्जा यदि उचित न की गई हो तो दर्शक उसका आनन्द लेने की अपेक्षा उसकी आलोचना प्रारम्भ कर देंगे।

नाट्यशास्त्र और संगीत-रत्नाकर में नर्तक की वेशभूषा पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उनमें इस बात पर बल दिया गया है कि भाव के अनुसार ही पोशाक होनी चाहिए जिससे अंग-संचालन स्पष्ट दिखाई दे सके और नर्तक का सौन्दर्य निखर उठे। नाट्यशास्त्र में रूप-सज्जा का भी व्यापक और विस्तृत वर्णन हुआ है। बालों के विन्यास से लेकर मुकुट तथा आभूषण आदि हाथ से बनाने की विधियों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

नृत्य की शैलियाँ

भारत के विभिन्न प्रदेशों में आज नृत्य की अनेक शैलियाँ पाई जाती हैं। भरतनाट्यम्, कथकलि, कथक, मणिपुरी, उड़ीसी एवं कुचिपुड़ी जैसी शास्त्रीय शैलियाँ आज देश के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त यक्षगान तथा चक्कियार कथ के समान अन्य प्रादेशिक तथा अर्द्ध-शास्त्रीय शैलियाँ भी प्रचलित हैं। इन नृत्य शैलियों में भरतनाट्यम्, कथकलि, मणिपुरी और कथक विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। ये सभी शैलियाँ वास्तव में अपने-अपने प्रदेशों के लोक-नृत्यों की शैलियाँ रही हैं परन्तु शास्त्रीय तत्त्वों के समावेश तथा परिष्कार के कारण उनको शास्त्रीय नृत्य शैली की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। इन शैलियों का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है—

भरतनाट्यम्

प्राचीन भारतीय नृत्यों में भरतनाट्यम् नृत्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके उद्गम और प्रचार का श्रेय दक्षिण भारत को ही है। इस नृत्य शैली की कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं। इस नृत्य में अभिनय के चारों रूप—आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक विधिवत् प्रयुक्त होते हैं। नृत्त, नृत्य और नाट्य तीनों तत्त्वों का इस में सुललित और संतुलित समावेश है।

भरतनाट्यम् की सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति तथा कलात्मक प्रचार के लिए दक्षिण की देवदासियों को बहुत श्रेय है। मूलतः धार्मिक नृत्य होने के कारण देवदासियाँ ईश्वर उपासना के लिए मन्दिरों में इस नृत्य को किया करती थीं। इनको शिक्षा देने वाले 'नट्टुवन' नामक लोक-नृत्य का परम्परागत रूप से पेशा करते थे। मन्दिर की देवदासियों को नृत्य सिखलाना इनका कार्य था। ये देव-

दासियाँ तीन प्रकार की होती थीं—राजदासी अर्थात दरबार में नृत्य करने वाली; देवदासी अर्थात देवता के समक्ष मन्दिर में नृत्य करने वाली; और स्वदासी अर्थात् कुछ विशेष अवसरों पर अपनी कला का प्रदर्शन करने वाली।

भरतनाट्यम् अपनी भावाभिव्यंजना के लिए प्रसिद्ध है। यह प्रायः स्त्रियो के लिए विशेष उपयुक्त माना जाता है। "कथक, कथकलि, मणिपुरी, छऊ, कुचिपुड़ी नृत्यों की तरह इसे पुरुष नहीं करते। सम्भवतः इस परम्परा का कारण यह हो कि यह देवदासी नृत्य का संवारा, निखारा, शास्त्रीयकरण व रंगमंचीयकरण किया हुआ स्वरूप है। जो भी हो, पिछले तीस वर्षों में नृत्य रसिको मे इस नृत्य शैली को इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है कि अब नृत्य प्रेमी युवक भी नूपुर पहन कर रंगमंच पर आने का लोभ संवरण नहीं कर पाए हैं।"[1] भरतनाट्यम् नृत्य में राधा, कृष्ण तथा अन्य देवी-देवताओं की अनेक लीलाओ को नृत्य के द्वारा मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है।

भरतनाट्यम् नृत्य में लय तथा भावदर्शन की दृष्टि से सात संक्षिप्त कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते हैं—1. अलारिपु, 2. जेथीस्वरम्, 3. शब्दम्, 4. वर्णम्, 5. पदम्, 6. तिल्लाना और 7. श्लोक। अलारिपु, इस नृत्य शैली का प्रथम चरण है। इसमें नर्तकी 'समपद' वाली सहज स्थिति या स्थान पर खड़ी होकर अपने पैरो को अलग-अलग करती है और हाथों को सिर के ऊपर ले जाकर जोड़े हुए स्थिति में रखती है। इसी स्थिति में नर्तकी अपने सिर, नेत्र और हाथों को ताल एव स्वर की लय में हिलाना आरम्भ करती है। इसे 'रेचक' भी कहा जाता है। जेथीस्वरम् में द्रुतलय में अंगप्रदर्शन किया जाता है। शब्दम् में भक्ति या प्रशसा के शब्दों को व गीत के भावों को नृत्याभिनय द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। वर्णम् भरतनाट्यम् का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें गीतों का अभिनय विभिन्न अंगों एवं प्रत्यंगों द्वारा किया जाता है। पद्म में मूक नृत्याभिनय द्वारा पदों को मूर्त किया जाता है। एक-एक पद के भाव को संचारी भाव द्वारा नर्तकी खूब विस्तार से मूर्त करती है। तिल्लाना एक प्रकार से शुद्ध नृत्य होता है जिसके द्वारा शारीरिक चेष्टाओं को प्रदर्शित किया जाता है। इसमें नृत्य की आकर्षक मुद्राओ का संयोजन भी समन्वित रहता है जिन्हें बड़े कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। श्लोक भरतनाट्यम् नृत्य का अन्तिम चरण है। इसमें जयदेव के गीत गोविन्द या किसी अन्य रसमय पुस्तक से श्लोक उद्धृत होते हैं। श्लोक का अभिनय करते समय नर्तकी पद-संचालन एकदम बन्द कर देती है और मात्र अपने मुख एवं हस्त-परिचालन से भाव प्रदर्शित करती है जिसमें श्रद्धानिवेदन से लेकर धन्यवाद तक सम्मिलित रहता है।

---

1 छाया भटनागर भारत के शास्त्रीय नृत्य पृ० 2

भरतनाट्यम् नर्तकी का शृंगार बड़ी सूक्ष्मता व चतुरता से किया जाता है जिससे उसका रूप-लावण्य व आकर्षण अपने चरम सौन्दर्य पर पहुँच जाता है। इस नृत्य की वेशभूषा बड़ी सजीली होती है और आभूषणों पर अधिक ध्यान दिया जाता है पहले के नर्तक नीचे छोटा चूड़ीदार पैजामा पहन कर उस पर धोती बाँध कर नृत्य करते थे परन्तु अब नर्तकियाँ साड़ी और चोली पहन कर प्राय नृत्य करने लगी हैं।

भरतनाट्यम् के साथ-साथ चलने वाला संगीत कर्नाटक संगीत का अंग है। मृदंग और मंजीर इस नृत्य के अभिन्न अंग हैं। इसके अतिरिक्त शहनाई का भी प्रयोग किया जाता है। आधुनिकता के साथ-साथ इसमें वायलिन और क्लैरोनैट भी सम्मिलित हो गए हैं।

भरतनाट्यम् नृत्य का आज भी भारत के शास्त्रीय नृत्यों में शीर्षस्थान है। इसमें अभिनय कला की प्राचीन परम्परा का सुन्दर आदर्श दर्शकों को मुग्ध कर देता है। आज भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में इस नृत्य शैली की अपूर्व कीर्ति फैल रही है।

कथकलि

कथकलि भारत के दक्षिणतम् प्रदेश का संसार-प्रसिद्ध नृत्य-नाट्य है। इसका केन्द्र केरल और मलाबार का प्रदेश है। कथकलि की व्युत्पत्ति 'कथा-केली' से है जिसका अर्थ नृत्य-नाट्य है। इसको वहाँ की भाषा में आट्टम भी कहा जाता है। "कथकलि नृत्य यूँ तो भरतनाट्य से इस अर्थ में बिल्कुल अलग है कि भरत-नाट्य अधिकतर लास्य नृत्य है और कथकलि में ताण्डव तत्त्व अधिक है। कथ-कलि वीर, अद्‌भुत और शान्त रस को स्थापित करता है जबकि भरतनाट्य बहुधा शृंगार को ही प्रश्रय देता है। कथकलि नृत्य की अंगस्थितियाँ भरतनाट्य की अपेक्षा जटिल नहीं होतीं किन्तु मुद्राओं की संख्या बहुत अधिक है। कथ-कलि में अभिनय अंग प्रधान है, भरतनाट्य में नृत्त अंग। कथकलि में एक साथ कई लोग मंच पर आकर नृत्य करते हैं किन्तु भरतनाट्य में अधिकतर एक ही व्यक्ति अपना कौशल या चातुर्य दिखाता है। भरतनाट्य सिर्फ एक मन स्थिति की अभिव्यक्ति करता है और कथकलि अपने नाम के ही अनुसार एक कथा को कली के साथ प्रस्तुत करता है अर्थात् कथा को खेल कर दिखाता है। भरतनाट्य के नर्तक गाते भी हैं पर कथकलि के नर्तक अधिकांशत: एकदम मूक रहते हैं और मात्र अभिनय से ही अपने मनोभावों को प्रदर्शित करते हैं।"[1]

कथकलि में अधिक बल हाव-भाव तथा लयबद्ध अंग-संचालन पर दिया

1. केशव चन्द्र वर्मा : भारतीय नृत्य कला, पृ॰ 29-30

जाता है क्योंकि यह नाट्य प्रधान कला है। इसमें प्रथम महत्त्व अभिनय का है, तत्पश्चात् नृत्य का। इसमें अभिनय के लिए मुद्राओं का विशिष्ट प्रयोग किया जाता है। इस नृत्य नाट्य कला को हम लयबद्ध भाव-भंगिमाओं की नाट्य कला भी कह सकते हैं।

साज-सज्जा एवं वेशभूषा कथकलि नृत्य की प्रमुख विशेषता है। "चेहरे का श्रृंगार इस प्रकार किया जाता है कि उससे शोभा, कान्ति, दीप्ति व माधुर्य का अपूर्व आभास मिलता है। चेहरे के श्रृंगार से ही उन भावनाओं व चित्त-आवेगो की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है, जो कि विशेष भूमिकाओं से अभिन्न मानी गई हैं।"[1] मुख सज्जा के अन्तर्गत विभिन्न पात्रों के लिए विभिन्न रंगो के लेप निर्धारित है। मुख्यत: लाल, हरा, पीला, श्वेत और काला—ये पाँच रग श्रृंगार के लिए काम में लाए जाते हैं। "कथकलि की पोशाक धारण करते समय अस्सी से भी अधिक गांठें (वस्त्रों में) लगानी पड़ती है।"[2] बड़े-बड़े किरीटो का भी उपयोग किया जाता है। इन किरीटों का पीछे का प्रकाश मंडल भी साथ ही जुडा रहता है। पूरा किरीट और प्रकाश मंडल रत्नों और शीशे के टुकड़ों से जडित रहता है जिससे कि उस पर प्रकाश पड़ते ही वह जगमगा उठता है। किरीट और प्रकाश मंडल पात्रों के महत्त्व के अनुसार बड़े-छोटे होते हैं।

कथकलि नृत्य का प्रारम्भ होने से पहले उसकी घोषणा नगाड़े पीट-पीट कर आस-पास के गाँवों में संध्या होते-होते कर दी जाती है। इसे केलीकोट्टू के नाम से पुकारते है। प्रकाश के लिए मंच पर पीतल की दीवट रख दी जाती है, जिसमे दीप प्रज्वलित रहते हैं। जब सब लोग एकत्र हो जाते हैं तो पर्दा हटने के पहले पीछे से वन्दना और संगीत का कार्यक्रम होना प्रारम्भ हो जाता है, इसे थोड्यम और वन्दना श्लोकम् कहा जाता है। फिर शंखों, नगाड़ों, मृदंगों के साथ पुराप्पड्ड कार्यक्रम प्रारम्भ होता है जिसमें प्रमुख नायक तेजवान सहायको के साथ दर्शकों के सामने आता है। इसके साथ ही नृत्य में कथा का प्रादुर्भाव हो जाता है। थिरोनत्तम अंश कथकलि नृत्य में अत्यन्त रोमांचकारी और कुतूहल को जीवन्त करने वाला होता है। इसमें ताण्डव अंग का प्रदर्शन होता है। महा-भारत और रामायण के विभिन्न दृश्य छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट कर इस नृत्य मे दिखाए जाते हैं। कथकलि नृत्य की समाप्ति पर सदैव वन्दना का कार्यक्रम होता है जिसमें सबकी मंगल कामना की जाती है।

कथकलि नृत्य भारत का ही नहीं, एशिया का अत्यन्त रोमांचकारी नृत्य है "मलाबार की यह कला वास्तव में अद्वितीय है क्योंकि इसमें सुन्दर साहित्य,

1. गायनाचार्य अविनाश चन्द्र पाण्डेय : अनुवादक जयसिंह एस० राठौर : कथकलि नृत्य-कला, पृ० 10
2. वही. पृ० 10

मधुर संगीत, भावपूर्ण अभिनय व लयबद्ध नृत्य—इन सभी का समन्वय देखने-सुनने को मिलता है।"[1]

मणिपुरी

मणिपुरी नृत्य मूलतः मणिपुर नामक प्रदेश का नृत्य है। भारत-बर्मा की सीमा और आसाम के पहाड़ी जिलों के बीच स्थित इस प्रदेश का यह नृत्य आज भारत की प्रमुख नृत्य-शैलियों में स्थान पा चुका है। अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मणिपुर के लोग आज भी नृत्य करते हैं। "उनका प्राचीनतम नृत्य 'लाइहरोबा' वही नृत्य है जिसे शिव और पार्वती ने पहली बार मणिपुर प्रदेश में अपने पद-संचालन से निर्मित किया था।"[2] मणिपुर के लोगों का विश्वास है कि देवता की प्रसन्नता पर ही उनकी कृषि निर्भर करती है, इसलिए देवी-देवताओं को प्रसन्न करने हेतु 'लाइहरोबा' का नृत्य वर्ष में एक मास समारोह के साथ मनाया जाता है।

रास लीला नृत्य मणिपुर का सबसे प्रधान लोकमान्य नृत्य है। भावों का नृत्य द्वारा उदात्तीकरण रास लीला में प्रमुख महत्त्व रखता है। रास लीला के मध्य संवाद-अभिनय आदि भी होते हैं किन्तु प्रमुखता नृत्य की ही रहती है। रास लीला का यह कार्यक्रम कृष्ण, राधा और गोपियों के माध्यम से सम्पन्न होता है। उल्लेखनीय रास लीलाएँ चार प्रकार की हैं—वसंतरास वैशाख मास में, कुंजरास आश्विन मास में, महारास कार्तिक मास में और नित्यरास किसी भी समय, किसी भी अवसर पर किया जा सकता है। वसंतरास में रूठी हुई राधा को कृष्ण द्वारा मनाने का प्रयास होता है। कुंजरास में राधा और कृष्ण के संयोग शृंगार का नृत्य होता है। महारास में राधा और कृष्ण का विरह सम्बन्धी नृत्य होता है। और नित्यरास में राधा-कृष्ण की विरह और मिलन लीला को प्रदर्शित किया जाता है।

मणिपुर नृत्य की वेशभूषा महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ बहुत विशाल, चमकीली और आकर्षक होती है। नारी पात्रों का लहगा विशेष तने हुए बड़े घेर का होता है जो नर्तकी की कटि से नीचे की ओर सदा तना हुआ गोलाई में घूमता रहता है। सिर पर झीनी पारदर्शी चुनरी होती है। चमकदार आभूषण और फूलों का शृंगार शोभा उत्पन्न करने वाला होता है। विविध प्रकार के लेपों और चन्दनों से उसका मुख रंजित होता है। कृष्ण की वेशभूषा मोरमुकुटयुत,

---

1. गायनाचार्य अविनाश चन्द्र पाण्डेय अनुवादक जयसिंह एस० राठौर : कथकलि नृत्यकला, पृ० 35
2 केशव चन्द्र वर्मा : भारतीय नृत्य कला, पृ० 37

पीताम्बरधारी, मुरली, वैजयन्तीमाल सहित ही दिखाई जाती है ।

मणिपुरी नृत्य में मृदंग, मंजीरे, मुरली, करताल और खोल (मिट्टी का बना हुआ एक प्रकार का मणिपुरी मृदंग) का प्रयोग किया जाता है । मणिपुर ताल 4 से लेकर 68 मात्राओं के होते हैं, जिनके साथ नृत्य किया जाता है ।

कतिपय लोग मणिपुरी नृत्य को लोक-नृत्यों की श्रेणी में रखते हैं । "वास्तव में पूर्ण रूप से और निर्विवाद रूप से यह एक शास्त्रीय नृत्य है—भारत की अन्य सभी कलाओं की भाँति मणिपुरी नृत्य भी मानव मन की श्रेष्ठतम आध्यात्मिक भावनाओं की अभिव्यंजना करता है । इस कला का ध्येय आत्मोद्बोधन है । यह नर्तक और दर्शक की आत्मा को इहलौकिक प्रवंचना से ऊपर उठाकर आध्यात्मिक अनुभवों के उच्चतम शिखरों पर पहुँचाता है । मणिपुरी नृत्य जहाँ एक ओर पारम्परिक और शास्त्रीय है वहीं वैज्ञानिक भी है ।"[1]

कत्थक

भारत के प्राचीनतम परम्परागत शास्त्रीय नृत्यों की शृंखला में कत्थक नृत्य का प्रमुख स्थान है । उत्तरी भारत में नृत्य की यह शैली सर्वाधिक लोकप्रिय है । इसको 'नटवरी नृत्य' भी कहते हैं क्योंकि कत्थक् नृत्य के आदि देव रसराज नटवर कृष्ण को माना गया है ।

अन्य दूसरे नृत्यों की तरह कत्थक नृत्य भी मूलत: धर्म से सम्बद्ध है । संस्कृत काव्यों में कत्थक शब्द से उस व्यक्ति का बोध लिया गया है जो किसी कथा को स्वयं रोचक रूप में वर्णित करने की क्षमता रखता हो । रामायण और महाभारत में कथावाचक का उल्लेख अनेकश: हुआ है । कत्थक अर्थात् कथावाचक के लिए 'ग्रंथिक' शब्द भी प्रयोग हुआ है । जैन ग्रन्थों में कत्थक के लिए 'कहग' रूप पाया जाता है । इनका समावेश नट, नर्तक आदि उन कलाकारों के साथ किया गया है जो अपनी कला के माध्यम से प्रजा का प्रबोधन और मनोरंजन करते थे । कुशीलव शब्द को भी संस्कृत के शब्दकोशों में कत्थक का पर्यायवाची माना गया है ।

प्राचीन काल में वैष्णव मन्दिरों में कृष्ण के लीला गान, रास रंग, रूप चिंतन एवं नामस्मरण के रूप में कत्थक का प्रदर्शन होता था । यह परम्परा आज भी स्फुट रूप में अयोध्या तथा उत्तर प्रदेश के अन्य भागों में जीवित है । मध्यकालीन वातावरण से प्रभावित होकर यह नृत्य अपनी धार्मिक पृष्ठभूमि छोड़कर शृंगार के प्रदर्शन तक सीमित हो गया "कत्थक नृत्य क्रमश: सस्ती ढंग की शृंगारिक भावनाओं की पूर्ति का संगम बन गया । धीरे-धीरे इस नृत्य के

1. प्रकाश नारायण : मणिपुरी नृत्य पृ० 46

बारे में यह धारणा बन गई कि यह भारतीय 'नाच' का एक निकृष्ट उदाहरण है जो कि वैभव सम्पन्न विलासी मुस्लिम शासकों से प्रश्रय पाकर पनपा है। इस भ्रामक धारणा को बनाने में तत्कालीन नर्तक-समाज का भी बहुत बड़ा योग है।"[1]

कत्थक नृत्य अपने प्रस्तुतीकरण में जितना स्वतन्त्र है उतनी कदाचित कोई अन्य नृत्य शैली नहीं। प्रत्येक कत्थक नर्तक अपने-अपने अलग अन्दाज से नृत्य आरम्भ करता है और अपनी रुचि के अनुसार उसका संयोजन करता है। 'यही कारण है कि कथक नृत्य में स्वतन्त्र रूप में कई नृत्य नाटिकाओं का निर्माण सम्भव हो सका है। कथक नृत्य में कलात्मकता को अधिक से अधिक समाहित करने की क्षमता है।"[2]

कत्थक नृत्य के तीन अंग माने गए हैं—नृत्त, गत और अभिनय। कत्थक नृत्य का आरम्भ नृत्त पक्ष से होता है जिसके अन्तर्गत थाट, आमद, सलामी, बोल, तोड़े, टुकड़े, परन आदि का प्रस्तुतीकरण सामान्य रूप से किया जाता है। 'गत' द्वारा किसी विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति होती है, इसकी चाल द्रष्टव्य होती है। इस मे श्री कृष्णलीला का निरूपण—गोपिकाओ द्वारा पनघट पर पानी भरने जाना, मग रोकन लीला, माखन चोरी लीला, या गोपिकाओ की दूसरी प्रेम लीलाओं का हस्त तथा मुख की भंगिमाओं द्वारा किया जाता है। इस नृत्य मे अभिनय अग सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें नर्तक ठुमरी या दादरा आदि के प्रत्येक शब्द के भाव विविध अभिनयों से व्यक्त करता है।

ताल के सम्पूर्ण अगों पर पूरी दक्षता प्राप्त किए बिना कोई भी कत्थक नृत्य का सफल नर्तक नहीं बन सकता। "ताल द्वारा ही इस नृत्य का सम्पूर्ण सचालन होता है। इन नृत्यों मे प्राय: वादक और नर्तक एक दूसरे पर बहुत सीमा तक निर्भर करते है। इस नृत्य के लिए ताल अनेक हैं, पर इनमें तीन ताल सबसे अधिक प्रयुक्त होता है। झपताल, दादरा और धमार का भी ज्ञान इन नृत्यकारों के लिए प्राय: आवश्यक होता है।"[3]

कत्थक नृत्य में वाद्य वृन्द बहुत सीमित होता है। इसमें तबला, पखावज और सारंगी का प्रमुख स्थान है। पूरे नृत्य मे सारंगी पर एक ही धुन बजाई जाती है जिसे 'लहरा' कहते हैं। यह धुन बहुत मधुर स्वरो पर आधारित रहती है। तबला-लय स्थापित करता है और नर्तक के कला प्रदर्शन में विभिन्न 'बोलों' के द्वारा रोचकता लाता है।

---

1 केशव चन्द्र वर्मा : भारतीय नृत्य कला, पृ० 17
2 छाया भटनागर : भारत के शास्त्रीय नृत्य, पृ० 59
3 केशव चन्द वर्मा : भारतीय नृत्य कला पृ 24

कत्थक नृत्य की वेशभूषा पर मुगलकालीन दरबारी प्रभाव है। पुरुष नर्तक चूड़ीदार पैजामा, कुरता या अंगरखा पहनते हैं और कमर पर दुपट्टा बांधते हैं। सिर पर टोपी रहती है। स्त्रियों की वेशभूषा के आजकल तीन रूप प्रचलित हैं—1 साड़ी, 2 लहंगा, चोली व दुपट्टा, 3 मुगल अंदाज का चूड़ीदार पैजामा, जाकेट व दुपट्टा जिसे 'पेशवाज' कहा जाता है। गले, कान, व हाथों में उपयुक्त आभूषण भी धारण किए जाते हैं।

कत्थक नृत्य में पिछले कुछ वर्षों में असामाजिकता और अनैतिकता का जो दुषित वातावरण फैल गया था, वह अब धीरे-धीरे दूर हो रहा है। कुलीन महिलाएँ और युवक भी अब इस नृत्य की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। आधुनिक नृत्यकारों ने कत्थक को केवल चमत्कारिक नृत्य न बनाकर उसे सौन्दर्य प्रधान, रस-प्रधान व भाव-प्रधान बनाने की ओर सफल प्रयास किया है।

सूर-काव्य में नृत्य-रूप और अंग-संचालन

सूरदास महाकवि होने के साथ-साथ भारतीय संस्कृति की रसमयी गीतिका के स्वर सिद्ध गायक थे। संसार के किसी भी कोने में छिपे हुए सौन्दर्य को उनकी अन्तर्दृष्टि ने अवलोकन ही नहीं किया अपितु उसे चार चाँद लगाकर रसिकों को रसास्वादन का पुनीत पर्व भी प्रदान किया। सूरदास जी श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे और उनके काव्य में किसी-न-किसी रूप में श्रीकृष्ण का चरित अवश्य पाया जाता है। श्रीकृष्ण, जिन्हें कन्हैया भी कहा जाता है, नृत्य के आचार्य माने जाते हैं। अत: उनके भक्तों द्वारा नृत्य का वर्णन करना स्वाभाविक ही है। सूरदास को संगीतशास्त्र का अप्रतिम ज्ञान था। संगीत में गायन, वादन और नृत्य तीनों का समावेश होता है। इसलिए सूर-काव्य में हमें नृत्य के विविध रूप देखने को मिलते हैं।

सूर के संगीत का वह समय था जब अकबर के दरबार में तानसेन बैजू और बाबा रामदास अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा संगीत को अनुपम कला का रूप प्रदान कर चुके थे। ब्रज में निवास करने के कारण स्वामी हरिदास की स्वर-लहरी और गायन पद्धति का भी सूरदास को अवश्य ज्ञान रहा होगा। सूरदास से पूर्व अनेक संगीतशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना ही नहीं, उनके पठन-पाठन तथा मनन-चिन्तन की परम्परा भी प्रचलित थी। भरत के नाट्यशास्त्र तथा शार्ङ्गदेव के संगीत-रत्नाकर प्रभृति ग्रन्थ विद्वानों के श्रद्धाभाजन बन चुके थे। "महाकवि सूर के बालमुकुन्द की वात्सल्यमयी बाल लीला से रस पेशल-मानस में विविध शास्त्रीय तत्त्व समाहित हो चले थे। अत: यद्यपि उन्होंने स्वतन्त्र रूप से शास्त्रीय सर्जना नहीं की, फिर भी उनके रसवाही पद्यों में अनेक तत्त्वों का स्वरूपोन्मीलन हुआ है।"[1] सूर के काव्य में हमें नृत्य सम्बन्धी अनेक पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होता है। इन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सूर को नृत्यशास्त्र का पूर्ण ज्ञान था। अब हम यहाँ सूरदास द्वारा प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्दों का परिचय देना अभीष्ट समझते हैं—

ततकार

पैर के आघातों द्वारा जो बोल शब्द प्रगट किए जाते हैं उन्हें ततकार या तथ-

1. संगीत कला विहार (सितम्बर 1980), पृ० 29

कार कहते है । ता थेई, तत् थेई, यह एक ऐसा तत्कार है जिस पर पूरा कत्थक नृत्य निर्भर करता है । इस ततकार को हजारों ढंग से उलट-पुलट कर प्रदर्शित किया जा सकता है । जिस प्रकार गायन-वादन में ताल के ठेकों का महत्त्व है, उसी प्रकार नृत्य में तत्कार का महत्त्व है । सूरदास जी भी ततकार के महत्त्व से अनभिज्ञ न थे और उन्होंने अपने काव्य में ता थेई, तत् थेई इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है—

होड़ा, होड़ी नृत्य करैं, रीझि-रीझि अंक भरैं, ता ता थेई ।
उघटत है हरषि मन ।
सूरदास प्रभु प्यारी, मंडली जुबति भारी, नारि कौ अंचल लैलै ।
पोंछत है स्रम कण ।[1]

गति

गति का नृत्य में विशेष स्थान है । सूर-काव्य में गति के दोनों प्रकारों—चलित गति और स्थिर गति के भाव देखने को मिलते हैं—

कबहुँ चलत सुधंग गति सौं, कबहुँ उघटत बैन ।[2]
लेति सुघर औघर गति तान, दै चुम्बन आकर्षित प्रान ।[3]

तिरप

नृत्य में तिरछे भ्रमण को तिरप अथवा तिरिप कहते हैं । सूरदास जी नृत्य के उरप-तिरप आदि अंग-संचालनों से भली भाँति परिचित थे और उन्होंने इनका प्रयोग अपने काव्य में किया है—

तिरप लेति सुन्दर भामिनी । मनहुँ बिराजत घन दामिनी ।[4]

हस्तक

नृत्य के अन्तर्गत विभिन्न भावों तथा अभिनय करने के बाद जब नर्तक, अपनी मूल स्थिति में आ जाता है, तब उसे 'हस्तक' की स्थिति कहते हैं। इसमें एक हाथ सिर पर और दूसरा समानान्तर फैला हुआ या दोनों हाथ अन्दर की ओर समानान्तर मोड़कर वक्षस्थल से प्राय: सटा कर रखे जाते हैं । सूरदास जी ने भी अपने काव्य में 'हस्तक' का प्रयोग किया है—

---

1. सूरसागर (भाग पहला) पृ० 517 पद सं० 1767
2. वही, पृ० 517 पद सं० 1766
3. वही, पृ० 531 पद सं० 1798
4. वही

हस्तक भेद ललित गति लई । अंचल उड़त अधिक छवि भई ।[1]

हाव-भाव

नृत्य में हाव-भाव का विशेष महत्त्व है । हाव-भाव से नर्तक अपने हृदयगत भावों को अपने अंग-संचालन और विभिन्न मुद्राओं द्वारा व्यक्त करता है । हाव-भाव को पूर्ण कुशलता के साथ प्रदर्शित करने पर ही नृत्यकार सफल माना जा सकता है—सूरदास जी ने अपने काव्य में हाव-भाव का उल्लेख किया है—

फेरि रास मंडली बनायौ । हाव-भाव करि सबनि रिझायौ ।[2]
हाव भाव नैननि सैननि दै, रिझावत गिरिवर-धारि ।[3]

तांडव और लास्य

शास्त्रीय नृत्य के दो परम्परागत रूप हैं—ताण्डव और लास्य । ताण्डव में उग्र भावों की अभिव्यक्ति होती है । "रौद्र रस का स्रोत बहने लगता है, क्रोध की अग्नि भभकती है, धरती काँपती है और गड़गड़ाहट होती है मानो समूचे विश्व में संहार क्रिया हो रही हो ।"[4] शिव का ताण्डव नृत्य सत् की सृष्टि और असत् के संहार करते हुए विश्व के लय-ताल संयुक्त विकास का प्रतीक है । ताण्डव नृत्य के समय डमरू का नाद संसार की उत्पत्ति, हस्त मुद्रा संसार के रक्षण, अग्नि संहार क्रिया और उठा हुआ पैर मोक्ष को प्रकट करता है ।[5] रौद्र रूप में किया हुआ नटराज शिव की यह ताण्डव मुद्रा विश्व की सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव, आविर्भाव और अनुग्रह इन पाँच क्रियाओं का द्योतक है ।[6]

कृष्ण भक्ति के कोमल और मधुर रूप में ताण्डव की अभिव्यक्ति के लिए अधिक स्थान नहीं हो सकता । केवल दावानल और कालीय दमन आदि प्रसंगों के नृत्य ताण्डव के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं । नृत्य गान आदि विविध क्रीड़ा करते हुए शिशु कृष्ण का शैशव काल बीत जाता है और वे कुछ बड़े हो जाते हैं । सखाओं के साथ कृष्ण यमुना तट पर खेल खेलने लगते हैं । खेल-खेल में गेंद यमुना में गिर जाती है और कृष्ण कालीय का वध करने के लिए जल में कूद पड़ते हैं । शिशुकाल में किया गया कृष्ण का बाल-नृत्य वय तथा परिस्थितियों

---

1 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 532 पद सं० 1798
2 वही, पृ० 526 पद सं० 1797
3 वही, पृ० 494 पद सं० 1675
4 संगीत (नृत्य अंक) जनवरी-फरवरी 1941, पृ० 71
5 वही
6 वही, पृ० 66

के साथ ही प्रचण्ड रूप धारण कर लेता है।"[1] और हमें कृष्ण के ताण्डव रूप के दर्शन होते हैं—

> सबै ब्रज है जमुना कैं तीर।
> कालीनाग के फन पर निरतत, संकर्षन कौ बीर।
> लाग मान थेई-थेई करि उघटत, ताल मृदंग गंभीर।
> प्रेम मगन गावत गांध्रव गन, ब्यौम बिमाननि भीर।
> उरग नारि आगै भई ठाढ़ी, नैननि ढारति नीर।
> हमकौ दान देई पति छाड़हुँ, सुन्दर श्याम सरीर।
> आए निकसि पहरि मनि भूषण, पीत बसन कटि चीर।
> सूर स्याम कौ भुज भरि भेंटत, अंकम देत अहीर।[2]

शृंगार, करुण आदि रसों से युक्त सुकोमल अंग-संचालन वाला प्रत्येक लालित्यपूर्ण नृत्य जो मुख्यत: स्त्रियों के किए जाने के योग्य हो उसे लास्य नृत्य कहते हैं। लास्य तीन प्रकार का होता है—विकट, विषम और लघु। विकट लास्य में ताल और झंकार के साथ भाव प्रदर्शन होता है, विषम में नृत्य सीधी रेखा से शुरू होता है और फिर वृत्ताकार हो जाता है। उसके उपरान्त टेढ़ी पंक्तियों का निर्माण करके फिर सीधी रेखा बनाई जाती है। लघु लास्य में कोमल-अंग संचालन होता है। सूर के नृत्य सम्बन्धी जितने भी पद हैं, अधिकांशत: उनमें ये रूप देखने को मिलते हैं। विकट और विषम का संयुक्त रूप रास के सामूहिक नृत्य में मिल जाता है। लघु लास्य के तत्त्व पनघट लीला दान लीला, तथा अन्य प्रसगों के कोमल अंग-संचालनों से युक्त नृत्य में देखे जा सकते हैं। जिनकी परम्परा आधुनिक कत्थक नृत्य में गागरी नृत्य, दही नृत्य के रूप में चली आ रही है।

बाल-नृत्य

सूर-काव्य में बाल क्रीड़ा के प्रसंग में बालक कृष्ण का नृत्य वर्णन अत्यधिक स्वाभाविक और हृदयग्राही है। यद्यपि बाल कृष्ण को नृत्य का ज्ञान नहीं है परन्तु फिर भी वह अपनी इच्छानुसार टूटे-फूटे शब्दों में गा-गा कर नाच-नाच कर आनन्दित हो रहे हैं—

> हरि अपने आँगन कछु गावत।
> तनक-तनक चरननि सौं नाचत मनहिं मनहिं रिझावत।[3]

1. डॉ० उषा गुप्ता : हिन्दी के कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य में संगीत, पृ० 143
2. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 364 पद सं० 1193
3. वहीं, पृ० 260 पद सं० 795

बालक के इस भोले रूप को देखकर मातृ-हृदय विभोर हो जाता है। माता यशोदा ताली बजा-बजाकर गाती है और कृष्ण को नचाती है। कृष्ण माँ के गाने करतल ध्वनि अनुकरण कर गाते, ताली बजाते तथा अपने नन्हे-नन्हे पैरों से घुँघरू बजाते हुए नाचते हैं—

आँगन स्याम नचावहीं, जसुमति नंदरानी।
तारी दै-दै गावही, मधुरी मृदु बानी॥
पाइन नुपुर बाजई, कटि किंकनि कूजै।
नान्हीं एड़ियन अरुनता, फल बिंब न पूजै॥
जसुमति गान सुनै स्रवन, तब आपुन गावै।
तारी बजावत देखई, पुनि आपु बजावै॥
जसुमति सुतहिं नचावई, छवि देखति जियतैं।
सूरदास प्रभु स्याम कौं मुख टरत न हिय तैं॥[1]

इतना ही नहीं, जब कृष्ण और बलराम आपस में लड़ते-झगड़ते हैं तो कृष्ण को खिझाने के लिए भी बलराम नृत्य का ही सहारा लेते हैं—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ, तु जसुमति कब जायौ।
× × ×
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात।[2]

रास-नृत्य

रास ब्रज का एक "धर्म प्रधान संगीत-रूपक" अथवा "धार्मिक नृत्य-नाट्य" है। इसका उद्देश्य रास द्वारा अपने भजनानन्द की प्राप्ति के साथ ही साथ भक्त जनों में सात्त्विक मनोविनोद और श्रद्धालु जनता में राधाकृष्णोपासना का प्रचार करना था। इसमें नृत्य, नाट्य, गायन, वादन, काव्य और चित्र आदि सभी कलाओं का धर्मोपासना के साथ ऐसा समन्वय किया गया कि वह ब्रज संस्कृति का सर्वाधिक समर्थ उपकरण ही नहीं, वरन् उसके सामूहिक स्वरूप का प्रतीक ही बन गया था। "ब्रज संस्कृति को यदि एक विशाल वृक्ष की उपमा दी जाए और उसके समस्त अंगोपांगों को उसकी शाखा-प्रशाखाएँ समझा जाए तो 'रास' को उसका आनन्दायी मधुर फल कहा जायेगा।"[3]

रास शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। "रसो वै सः" अर्थात् परमात्मा रस है। "रसस्याम इति रास" अर्थात्

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 260 पद सं० 752
2. वही, पृ० 270 पद सं० 833
3. प्रभुदयाल मीतल : ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० 161

रस (परमात्मा) से जो सम्बद्ध है वह रास कहलाता है। तथा "रसानां समूह रास:" अर्थात् रस समूह को रस कहते हैं। "नर्तकीनां भवेत रासो मंडील भूय नर्तन:"—इन परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि रास वह नृत्य है जिसमें बहुत से नर्तक एवं नर्तकियां मंडलाकार रूप में नृत्य करते हैं। प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में रास के न्यूनाधिक अर्थ को व्यक्त करने वाले अनेक शब्द उपलब्ध हैं जिनमें रसक, हल्लीसक, छालिक्य, रासा, रासो, रसायण और रहस उल्लेखनीय हैं। ये शब्द विविध कालों में विभिन्न अर्थों के द्योतक रहे हैं किन्तु रास के मूल अभिप्राय से वे पूरी तरह कभी विलग नहीं हुए। संगीत-शास्त्र पर लिखने वाले कुछ परवर्ती लेखकों ने लास्य को भी रास का पर्याय-वाची माना है। उनके अनुसार रास का कोमलतम रूप ही लास्य कहाता था।[1]

रास ब्रज का अत्यधिक प्रचलित नृत्य है। कृष्ण दत्त वाजपेयी के विचार से रास को ललितकला की एक विशिष्ट वस्तु कहना अनुचित न होगा। इसके द्वारा जिस सुन्दरता से ब्रज का साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक जीवन अभिव्यक्त किया जा सकता है वैसा अन्य किसी साधन के द्वारा नहीं।[2] सूर-काव्य में रास का वर्णन भागवत के अनुसार ही किया गया है। कृष्ण के मुरली बजाने पर मुरली की ध्वनि सुनकर गोपियाँ गृहकार्य और आर्य पथ (लज्जा) त्याग कर कृष्ण के पास पहुँच जाती हैं। कृष्ण उन्हें घर लौटने के लिए कहते हैं पर वे घर लौटने को तैयार नहीं। चतुर्दिक में शरद पूर्णिमा का मोहक वाता-वरण फैला हुआ है। ज्योत्स्ना धवलित वातावरण के लिए उपयुक्त होने के कारण कृष्ण के मन में गोपियों के साथ रास रचने की इच्छा उत्पन्न होती है और वे गोपियों के साथ मिलकर रास करने लगते हैं। राधा और श्याम रास मंडली के मध्य में सुशोभित हैं। सोलह हजार गोपियां चारों ओर नाच रही हैं—

> मुरली-धुनि करी बलबीर।
> सरस निसि का इंदु पूरन, देखि जमुना तीर॥
> सुनत सो धुनि भई व्याकुल, सकल घोष कुमारि।
> अंग अभरनि उलटि साजे, रही कुछ न सम्हारि॥
> गई सोरह सहस हरि पैं, छांड़ि सुत-पति-नेह।
> एक राखि रोकि के पति, सो गई तजि देह॥
> दियौं विहिं निर्वान पद हरि, चितै लोचन कोर।
> सूर भजि गोविंद यौं, जग-मोह-बंधन-तोर॥[3]

1. ब्रज भारती पत्रिका, पृ० 10
2. कृष्णदत्त वाजपेयी : ब्रजलोक संस्कृति, ब्रज की लीला, पृ० 148
3. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 483 पद सं० 1625

रास रस स्रमित भई ब्रजबाल
निसि सुख दै जमुना-तट लै गए, भोर भयौ तिहिं काल ।।
मन कामना भई परिपूरन, रह्यौ न एकौ साध ।
षोड़स सहस नारि संग मोहन, कीन्हौं सुख अवगाधि ।।
जमुना-जल बिहरत नंद-नन्दन, संग मिलीं सुकुमारि ।
सूर धन्य धरनी बृन्दावन, रबि-तनया सुख करि ।।[1]

रास के चार भेद माने जाते हैं—नित्य रास, अवतरित रास, अनुकरणात्मक रास और देहात्मक या दैहिक रास । सूरसागर में हमें नित्य रास और अवतरित रास का एकीकरण रूप मिलता है—

सुरगन चढ़ि बिमान नभ देखत ।
× × ×
× × ×
धनि धनि सूरदास के स्वामी, अद्भुत राच्यौ रास ।[2]
मानौ माई घन घन अन्तर दामिनि
घन दामिनि दामिनि घन अंतर, सोभित हरि-ब्रज भामिनि ।।[3]

जैसाकि पहले लिखा गया है कि रास एक "संगीत-नाट्य" अथवा "गेय रूपक" है, इसलिए संगीत इस कलारूप का प्राण है । "किन्तु स्वरांकन प्रणाली का प्रचार न होने से रास के संगीत का मूल रूप स्थिर नहीं रह सका और जो रूप इस समय प्रचलित है, वह कई शताब्दियों के घात-प्रतिघातों के कारण विकृत एवं दूषित हो गया है । फिर भी इसके साहित्यिक उल्लेखों के आधार पर संगीत के मूल रूप की रक्षा की जा सकती है । रास सम्बन्धी साहित्य में उरप, तिरप, सुलप, लाग, डाट, ध्रुवा छंद जाति, ग्राम और राग आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है । इन्हीं के आधार पर रास के वर्तमान संगीत के परिष्कार का प्रयत्न होना चाहिए ।"[4] सूर-काव्य में रास के जिन वाद्य यन्त्रों का नामोल्लेख मिलता है उनमें ताल, मृदंग, झांझ, डफ, मुरली, मुरज, उपंग, पखावज, अघौटी, शृंग, मुहचंग आदि उल्लेखनीय हैं ।

लोक-नृत्य

लोक-कलाओं ने कभी बन्धन स्वीकार नहीं किया है । जीवन कला में भी जन जीवन ने मुक्ति के लिए साधना की है । लोक-नृत्य सभी कलाओं में अति

1 सूरसागर (पहला भाग) पृ॰ 519 पद सं॰ 1774
2. वही, पृ॰ 491 पद सं॰ 1662
3. वही, पृ॰ 492 पद सं॰ 1666
4. प्रभुदयाल मीतल : ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, पृ॰ 211

प्राचीन है । मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य में भावप्रकाश की आकांक्षा जन्म-जात मानी गई है । सृष्टि के प्रारम्भ में भावहीन मानव में भावप्रकाश के लिए शरीर के हाव-भाव का ही आश्रय लिया होगा । भावप्रकाशन की सार्थक मुद्राओं को ही भाषा ने नृत्य कहा है । सूर भी लोक-नृत्यों से प्रभावित हुए बिना न रह सके । उन्होंने अपने काव्य में स्थान-स्थान पर लोक-नृत्यो की झलक प्रस्तुत की है । सूरदास ने कृष्ण-जन्म के अवसर पर हुरके बजाते हुए ढाढि-ढाढ़िन के नृत्य का उल्लेख किया है—

> ढाढ़ी और ढाढ़िनि गावैं, ठाढ़े हुरके बजावैं, हरषि असीस
> देत मस्तक नवाई कै ।[1]
> ढाढ़िनि मेरी नाचै-गावै, हौ हूँ ढाढ़ बजाऊँ ।[2]

ब्रज में इसके अतिरिक्त चाँचर नामक लोक-नृत्य भी उल्लेखनीय है । ब्रज में होली खेलने के पश्चात् स्त्री-पुरुष एक स्थान पर एकत्रित होकर जो प्रसाद बाँटते हैं वह फगुआ या चाँचर कहलाता है । उस समय गीत भी गाए जाते हैं जिन्हें चाँचर गीत कहते हैं । चाँचर गीत विशेष होने के साथ ही लकुट नृत्य भी है—

> धींगरि धिग चाँचरि करै, मोंहि बुलावति साखि ।[3]
> सूरदास सब चाँचरि खेलैं, अपने-अपने टोलैं ।[4]

नृत्यमयी अंग-संचालन

नृत्य में अंग-संचालन का विशेष महत्त्व है । जैसे कि पहले कहा गया है कि सूरदास जी नृत्यशास्त्र के ज्ञाता थे इसलिए उनके काव्य में हमें अंग-संचालन का विस्तृत वर्णन मिलता है । उनके पदों में हमें हाव-भाव के भी अत्यधिक संकेत प्राप्त होते हैं ।

पैरों का ठीक संचालन अथवा पाद-विक्षेप नृत्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है । सूर के पदों में हमें पैरों के पटकने का कई स्थलों पर उल्लेख मिलता है—

> धरनि पग पटकि, कर झटकि, भौंहनि मटकि, अटकि मन
> तहाँ रीझे कन्हाई ।[5]

---

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 221 पद सं० 649
2. वही, पृ० 223 पद सं० 665
3. वही, पृ० 612 पद सं० 2109
4. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 232 पद सं० 3475
5. सूरसागर (पहला भाग पृ० 490 पद सं० 1659

मृदु पदन्यास, मंद-मदयानिल-बिगलित सीस निचोल ।[1]

पग पटकत लटकत लट बाहु । भटकत भौंहीन हस्त उछाह ।[2]

नृत्य में हस्त-मुद्रा अर्थात् हस्ताभिनय भी विशेष महत्त्व रखता है । सूरदास जी ने भी अपने काव्य में कई स्थानों पर हस्ताभिनय का उल्लेख किया है—

हस्तक भेद ललित गति लई । अंचल उड़त अधिक छवि भई ।।[3]

मटकत भौं हिन हस्त उछाह ।[4]

नृत्य भावाश्रित है और नृत्य में सात्त्विक भावों को उत्पन्न करने वाली भूमि हैं—मनुष्य का चेहरा । चेहरे पर स्थित नेत्र, नासिका, कपोल, भ्रुव, आदि प्रत्यंग ही सात्त्विक भावों के स्रोत हैं । सूर-काव्य में प्रायः मुख के इन सभी प्रत्यंगों का उल्लेख मिलता है—

नेत्र

भौंह मोरनि, नैन फेरनि, तहां नहीं टरे ।[5]

प्राननि सो प्रान, नैन नैननि अँटकि रहे ।[6]

दूरि-दूरि देखत नैननि सैन, मुख की हँसी कहत मृदुबैन ।[7]

भृकुटि

मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि, नारि-मन सुख देत ।[8]

पग पटकत लटकत लट बाहु । मटकत भौंहनि हसत उछाह ।[9]

भौंह मोरनि, नैन फेरनि, तहाँ तै नहिं, टरै ।[10]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास जी को शास्त्रीय नृत्य के साथ-साथ लोक-नृत्यों का भी पूर्ण ज्ञान था । नृत्य के सभी भेदों और रूपों से भली भांति परिचित होने के कारण ही सूरदास जी नृत्य-जगत का कोना-कोना झाँक पाए हैं और उसे सुन्दर ढंग से अपने काव्य में प्रदर्शित करने में सफल रहे हैं ।

---

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 514 पद सं० 1754
2. वही, 530 पद सं० 1798
3. वही, पृ० 532 4. वही, पृ० 530
5. वही, पृ० 516 पद सं० 1763
6. वही, पृ० 517 पद स० 1767
7. वही, पृ० 530 पद स० 1798
8. वही, पृ० 517 पद सं० 1766
9. वही, पृ० 530 पद स० 1798
10. वही, पृ० 516 पद स० 1763

सूर-काव्य में रूप-सज्जा और वेशभूषा

कला मानव संस्कृति की उपज है। कला का जन्म सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा से हुआ है। प्रकृति के मनोहर दृश्यों ने मानवीय मन को आनन्दित कर दिया। इसीलिए कला का उद्देश्य सुन्दर रचना द्वारा आनन्द की उत्पत्ति माना जाने लगा है। नृत्य भी एक ललित कला है, अतएव इसका मुख्य उद्देश्य भी मानवीय मन में सौन्दर्य द्वारा आनन्द की उपलब्धि ही कहा जा सकता है। क्योंकि नृत्य को रंगमंच पर दर्शकों के सामने प्रस्तुत करना होता है, इसलिए इस को इस ढंग से प्रस्तुत करना और भी अनिवार्य हो जाता है जिससे दर्शकों को सौन्दर्य का वास्तविक बोध हो सके और वे वास्तविक आनन्द का रसास्वादन कर सकें।

ज्यों-ज्यों मानव सभ्यता का विकास हुआ है, त्यों-त्यों मानवीय सौन्दर्य को और भी अधिक सुन्दर दर्शाने के लिए नए-नए ढंगों और साधनों का आविष्कार हुआ। नृत्य को रंगमंच पर व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने के लिए रूप-सज्जा और वेशभूषा का महत्व स्वीकार किया जाने लगा। रूप-सज्जा और वेशभूषा मानव आकृति को सौन्दर्य प्रदान करने का एक महत्वपूर्ण साधन बन गया। नृत्य-प्रदर्शन में सफलता के लिए अभ्यास और शिक्षा के साथ-साथ, उत्तम वेश-भूषा और रूप-सज्जा भी अनिवार्य है। सूरदास जी एक उच्च कोटि के संगीतज्ञ और नृत्य-ज्ञाता थे, इसलिए उन्होंने भी अपने काव्य में रूप-सज्जा और वेश-भूषा को महत्त्व प्रदान किया है।

रूप-सज्जा और शृंगार

साहित्य में शृंगार के सोलह अंग कहे गए हैं—उबटन, मज्जन, मिस्सी, स्नान, सुवसन, केश-विन्यास, अंजन, माँग में सिन्दूर, महावर, मेंहदी, ठोढ़ी पर तिल बनाना, बिंदी, अंगराग-लेपन, आभूषण, फूलों की माला तथा पान खाना। सूर जी ने भी अपने काव्य में सोलह शृंगारों का उल्लेख किया है—

> षट-दस सहित सिंगार करति हैं, अंग-अंग निरखि सँवारति।[1]
> सजे शृंगार नव-सात जगमगि रहे अंग भूषण, रैनि बनी तैसी[2]

शरीर के सोलह अवयवों को सजाना भी अंग-प्रत्यंग अथवा नख-शिख शृंगार कहलाता है और सूरसागर में भी ऐसा संकेत मिलता है—

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 614 पद सं० 2115
2. वही, पृ० 493 पद सं० 1670

और त्रिया नख शिख सिंगार सजि, तेरैं सहज न पूरैं ।[1]
सकल सिंगार कियौ ब्रजबनिता, नखसिख लौं भल ठानि ।[2]

शरीर के ये सोलह अवयव इस प्रकार हैं : चार दीर्घ केश, उँगली, नयन, ग्रीवा; चार लघु—दशन, कुच, ललाट, नाभि; चार भरे हुए—कपोल, नितम्ब, जाँघ, कलाई, तथा चार पतले—नाक, कटि, पेट तथा अधर। उपर्युक्त प्रायः सभी प्रकार की शृंगार-सज्जा का चित्रण और शरीर के सोलह अवयवों का वर्णन सूरसागर में मिल जाता है।

उबटन का स्थान प्राचीन काल से ही स्त्रियों की प्रसाधन-सामग्री में पाया जाता है। उबटन से त्वचा कोमल और स्निग्ध हो जाती है। आजकल भी विवाह से पूर्व वर को हल्दी, सरसों व तेल से उबटन लगाने की प्रथा विद्यमान है। सूरसागर में भी आज के ही समान तेल का उबटन लगाने का संकेत कई स्थलों पर मिलता है—

तब महरि बाँह गहि आने। लै तेल उबटनौ सानैं ।[3]
तेल उबटनौ लै आगैं धरि, लालहिं चोटत-पोटत री ।[4]

राधा और कृष्ण के विवाह के प्रसंग में मंजन (मज्जन) का उल्लेख मिलता है :—

बदन-मंजन तैं अंजन गयौ ह्वै दूरि।
कलंक रहित ससि पून्यौ ज्यौं कला पूरि ।[5]

बाल कृष्ण सम्बन्धी पदों में स्नान का और बाद में कृष्ण, राधा और गोपियों की यमुना में जल-क्रीड़ा, से सम्बन्धित अनेक पद मिलते है—

तातौ जल आनि समायौ। अन्हवाइ दियौ, मुख धोयौ।[6]
जमुना तैं जल भरि लै आऊँ, ततिहर तुरत चढ़ाऊँ।
केसरि कौ उबटनौ बनाऊँ, रचि-रचि मैल छुड़ाऊँ।[7]
स्याम अंग चंदन की आभा, नागरि केसरि अंग।
मलयज-पंक कुंकुमा मिलिकै, जल-जमुना इक रंग।[8]

---

1 सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 138 पद सं० 3062
2 वही, पृ० 234, पद स० 3479
3 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 261 पद सं० 801
4 वही, पृ० 263 पद सं० 804
5. वही, पृ० 501 पद सं० 1694
6 वही, पृ० 262 पद सं० 801
7 वही, पृ० 263 पद सं० 803
8. वही, पृ० 521 पद सं० 1780

रूप-शोभा में वृद्धि करने के लिए केश-विन्यास का महत्वपूर्ण स्थान है अत. इसका वर्णन करना सूर के लिए स्वाभाविक ही था। सूरसागर में केश-विन्यास पर अनेक पद मिलते है। राधा के एड़ी-चुम्बी केश आकर्षक हैं और सूर ने उसका उल्लेख इस प्रकार किया है—

बड़े बड़े बार जु एँड़िनि परसत, स्यामा अपनै अंचल मैं लिएँ।[1]

सूरसागर में कई प्रकार के केश-विन्यास का निर्देश है। उनमें से सबसे अधिक बेनी गूँथने के उल्लेख हैं। कुछ पदों में कृष्ण द्वारा राधा की वेणी गूँथने का भी चित्रण मिलता है—

एक परस्पर बेनी गूँथति, मन भावति रँगरलियाँ।[2]
मोहन मोहिनि अंग सिंगारत।
बेनी ललित ललित कर गूँथत सुन्दर माँग सँवारत।[3]

शृंगार के प्रसाधनों में नेत्रों के लिए अंजन का प्रयोग किया जाता रहा है। यह नेत्रों का सौन्दर्य तो बढाता ही है, साथ ही यह लाभदायक भी होता है। आजकल भी स्त्रियों तथा बच्चों द्वारा काजल लगाने की प्रथा है। सूरदास जी ने भी अपने काव्य में अंजन के महत्व को स्वीकार किया है और सूरसागर में अंजन और काजर शब्दों का उल्लेख हुआ है—

दरपन लै कजराहि सँवार।[4]
तन पहिरे नूतन चीर, काजर नैन दिए।[5]
आजु अंजन दियौ राधिक नैन कौं।[6]

रूप-सज्जा के लिए सिन्दूर का प्रयोग भी किया जाता है। विवाहिता हिन्दू स्त्रियों के लिए माँग में सिन्दूर भरना आवश्यक माना गया है। सूरदास जी ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए सिन्दूर का उल्लेख सूरसागर में कई स्थानों पर किया है—

मुख मंडित रोरी रंग, सेंदूर माँग छुही।[7]

मेंहदी और महावर भी सौन्दर्य में वृद्धि लाने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। आजकल भी घरों में स्त्रियाँ विशेष उत्सवों और दिनों पर महावर लगाती हैं।

---

1. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 173 पद सं० 3235
2. वही, पृ० 174 पद सं० 3238
3. वही, पृ० 175 पद सं० 3246
4. वही, पृ० 89, पद सं० 2807
5. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 217 पद सं० 642
6. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 140 पद सं० 3068
7. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 217 पद स० 642

सूरसागर में महावर के लिए दो शब्दों का प्रयोग हुआ है—जावक और महा-उर। पैरों में लगे हुए लाल महावर या जावक की शोभा का वर्णन शृंगार सम्बन्धी अनेक पदों में पाया जाता है—

नखनि रंग जावक की शोभा, देखत पिय-मन भावत।[1]

नाइनि बोलहु नवरंगी (हो) ल्याउ महावर वेग।[2]

ठोढ़ी पर तिल लगाना भी सौन्दर्य-वृद्धि का साधन माना जाता है। मुख के गौर वर्ण पर बिन्दु के समान काला तिल लगाने से विरोध के कारण सौन्दर्य की वृद्धि होती है। आजकल भी कुछ-एक स्त्रियाँ ऐसा तिल लगाए दिखाई देती हैं। सूरदास जी ने भी अपने काव्य में इस तिल का उल्लेख किया है—

चिबुक-बिंदु-बिच दियौ बिधाता, रूप सींव निरुवारि।[3]

शृंगार के प्रसाधन के रूप में पहले फूलों के हार अर्थात् फूलों की माला का प्रयोग किया जाता था। आजकल फूल-मालाएँ पहनने की प्रथा नहीं रही है परन्तु उत्सव-संस्कारों आदि के अवसर पर फूल-मालाएँ भेंट करना आज भी आतिथ्य-सत्कार का सूचक है। सूरसागर में राधा और गोपियों द्वारा फूल-मालाएँ पहनने का उल्लेख हुआ है—

कसि कंचुकि, तिलक लिलार, सोभित हार हिए।[4]

कहीं-कहीं पर फूलों से ही शृंगार करने का उल्लेख किया है—

फूलनि की बेंदी लिलार फूलनि नखसिख सिंगार, संतनि हित फूल डोल।[5]

सारी कंचुकि केसरि टीकौ। करि सिंगार सब फूलनि ही कौ॥[6]

माथे पर बिंदिया का भी सौन्दर्य-वृद्धि में योगदान माना जाता है। आजकल भी भारतीय स्त्रियों को रोली या सिन्दूर का टीका अथवा चमकदार टिकुली अत्यधिक प्रिय है। सूर-काव्य में चाँद के समान बिन्दी का वर्णन अनेक पदों में है—

बिबिध बेनी रची, माँग-पाटी सुभग, भाल बेंदी-बिंदु इंदु लाजै।[7]

और यह बिंदिया रोरी, मृगमद, चंदन, केसर और सिन्दूर से लगाने का भी

1 सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 493, पद सं० 1672
2. वही, पृ० 224 पद सं० 658
3 वही, पृ० 74 पद सं० 2736
4 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 217 पद सं० 642
5 सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 263 पद सं० 3535
6 वही, पृ० 246 पद सं० 3510
7 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 490 पद सं० 1660

उल्लेख सूर-काव्य में मिलता है—

मुख मंडित रोरी रंग, सेंदूर माँग छुही ।[1]
चंदन-बिंदु निरखि हरि रीझे, ससि पर बाल-विभास ।[2]
भृकुटी धनुष, नैन सर, साँधे, सिर केसरि की टीकौ ।[3]
भाल लाल-सिंदूर-बिन्दु पर मृगमद दियौ सुधारि ।[4]

स्नानोपरांत शरीर पर सुगन्धित द्रव्यों के लेपन को अंगराग-लेपन के नाम से अभिहित किया जाता है। यह प्रथा प्राचीन भारत में काफी प्रचलित थी। अतएव स्वाभाविक ही है कि सूरदास जी ने अपने काव्य में भी अंगराग-लेपन का उल्लेख किया है—

चंदन अरगजा सूर केसरि धरि लेऊँ।
गंधनि ह्वै निरखि, नैननि सुख देउँ ।[5]
खर कौ कहा अरगजा लेपन, मरकट भूषण-अंग।[6]

सौन्दर्य-वृद्धि के लिए प्राचीन काल से ही स्त्रियाँ आभूषणों का प्रयोग करती आ रही हैं। सूरसागर में राधा और गोपियों के आभूषणों का अनेक पदो में विस्तार से वर्णन किया गया है। सूरदास जी ने आभूषणों के लिए प्रधानतया आभूषण, भूषन, आभरन तथा अभरन पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त किए हैं —

कनक खचित मनिमय आभूषण, मुख,स्रम-कन सुख देत ।[7]
जब देखैं अंग उलटे भूषण, तब तरुनी मुसुक्यानी ।[8]
अंग अभरन उलटि साजे, रही कछु न सम्हारी ।[9]
रचि आभरन सिंगार, अंग सजि, ज्यौं रति पति सजनी ।[10]

शृंगार के प्रसाधनों में पान का विशेष महत्व था। पान खाने की प्रथा भारत में प्राचीन काल से चली आ रही है। आजकल शृंगार के प्रसाधनो मे पान का स्थान ओष्ठरंजन (lip-stick) ने ले लिया है। काव्य में हमें पान के पर्यायवाची के रूप में बीरी और तमोर शब्द मिलते हैं। पान की पीक का

---

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 217 पद सं० 642
2. वही, पृ० 493, पद सं० 1671
3. वही, पृ० 664 पद सं० 2320
4. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 74 पद सं० 2736
5. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 501 पद सं० 1693
6. वही, पृ० 92 पद सं० 332
7. वही, पृ० 387 पद सं० 1246
8. वही, पृ० 489 पद सं० 1655
9. वही, पृ० 483 पद सं० 1625
10. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 88 पद सं० 2802

ंन भी हमें सूर के पदो में मिलता है—

सुन्दर सुघर कपोल हो, रहे तमोर भरि पूर ।[1]
बीरी मुख भरि, चिबुक डिठौना, निरखि कपोलनि लाजत ।[2]
पीक कपोलनि तखिन के ढिग, झलमलाति मोतिनि छवि जोए ।[3]

शृंगार की सहायक वस्तुओं के दर्पण का विशेष महत्व है। यदि यह क- ए कि दर्पण के बिना शृंगार करना असम्भव है, तो कोई अत्युक्ति नही सागर में भी दर्पण में मुख देख कर शृंगार करने का उल्लेख मिलता है—

करतें मुकुर दूरि नहीं डारति, नागरि मन-मन रही लुभाई
कबहु केसरि आड़ रचति दर्पण हेरि, कबहुँ, भ्रुव निरखि रिस करि सका

सूरदास जी ने शृंगारिक प्रसाधनों के विषय का ही उल्लेख नही कि- पतु उन्होंने शृंगार करने की विधि की ओर भी संकेत किया है—

प्यारी अंग सिंगार कियौ ।
बेनी रची सुभग कर अपनै, टीका भाल दियौ ॥
मोतिनि माँग सँवारि प्रथम ही, केसरि-आड़ सँवारि ।
लोचन आँजि स्रवन तखिन छवि, को कवि कहै निवारि ॥
नासा नथ अतिहीं छवि राजति, अधरनि, बीरा-रंग ।
नवसत साजि चीर चोली बनि, सूर मिलन हरि संग ॥[6]

मोहन मोहिनि अंग सिंगारत ।
बेनी ललित ललित कर गूँथत, सुन्दर माँग सँवारत ॥
सीस फूल धरि, पाटी पोछत, फूँदनि झब्बा निहारत ।
बदन बिंद जराइ की बेंदी, तापर बनै सुधारत ॥
तखिन स्रवन, नैन दोउ अंजन नासा बेसरि साजत ।
बीरी सुख भरि, चिबुक डिठौना, निरखि कपोलनि लाजत ॥
नख सिख सजत सिंगार भाव सौ, जावक चरननि सोहत ।
'सूर' स्याम तिय अंग सँवारत, निरखि आपु मन मोहत ।[7]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास जी को शृंगार-प्रसाधनों का पूण

ूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 172, पद सं० 3231
ाही पृ० 176 पद सं० 3246
ाही, पृ० 182 पद सं० 328
वही, पृ० 89 पद सं० 2809
वही, पृ० 89 पद सं० 2808
ाही, पृ० 57 पद सं० 2645
ाही, पृ० 175-76 पद सं० 3246

ज्ञान ही नहीं था अपितु वे श्रृंगार की विधियों से भी भली भाँति परिचित थे। उन्होंने अपने काव्य में शृंगार-प्रसाधनों का इतना विस्तृत चित्रण किया है कि कोई सौन्दर्य विशेषज्ञ भी उनके सम तुलना नहीं रख सकता।

वेश-भूषा

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि नृत्य में वेश-भूषा का अत्यधिक महत्व है। सूर-काव्य में भी हमें वेश-भूषा पर अनेकों पद मिलते हैं जिनसे उस समय के वस्त्राभरणों सम्बन्धी ज्ञान मिलता है। वस्त्रों के सम्बन्ध में विशेष रूप से दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के रासपंचाध्यायी, जलक्रीड़ा, पनघटलीला, दान-लीला, रूप-वर्णन, मानलीला, झूलन, बसन्त-लीला शीर्षक अंशों में विशेष उल्लेख मिलते हैं।

राधा और गोपियों के विशेषकर तीन वस्त्रों—ओढ़नी, कंचुकी और लहँगे का सूर-काव्य में विस्तृत उल्लेख मिलता है। ओढ़नी के पर्यायवाची रूप में उढ़निया और चुनरी का भी उल्लेख हुआ है—

नील-पीत पट ओढ़नी देखत जिय जावे।[1]
पीत उढ़निया जो मेरी लै गई, लै आयौ घरि ताकौं।[2]
नयौ पीताम्बर, नई चूनरी, नई-नई बूँदनि भींगति गोरी।[3]

सूरसागर में लहँगा शब्द अनेक पदों में मिलता है। लहँगे के चार भाग होते हैं—नेफा, घेर, संजाप या गोट तथा लामन अथवा गोट की रंगीन पट्टी। नेफे के खुले भाग को नीबिया अथवा नीबी कहते है। सूर के अनेक पदों में लहँगे और नीबी का उल्लेख मिलता है—

नील लहँगा लाल चोली कसि, केसनि अंग सुरगनौ।[4]
दच्छिन चीर तिपाइको लहँगा। पहिरि बिबिध पट मोलनि महँगा।[5]
नीबी ललित गही जदुराई।[6]

सूर-काव्य मे चोली सम्बन्धी भी अनेक पद मिलते हैं। चोली के पर्याय-वाची शब्दों के रूप में अँगिया और कंचुकी का उल्लेख मिलता है—

---

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 244 पद सं० 734
2. वही, पृ० 402 पद, सं० 1312
3. वही, पृ० 400 पद स० 1303
4. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 224 पद सं० 3450
5. वही, पृ० 250 पद सं० 3519
6. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 400 पद सं० 1300

इहि लालच अंकवारि भरत हौ, हार तोरि चोली झटकाई ।[1]
लाल सारी नील लहँगा, स्वेत अँगिया अंग ।[2]
कसनि कंचुकी बन्द, उर मुक्त माल ।[3]

प्राचीन काल में अँगिया को सजाने की भी प्रथा थी । सूर-काव्य मे अँगिया की सजावट सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं—

बहु नग जरे जराऊ अँगिया, भुजा बहूँटनि, बलय संग को ।[4]
सुभग हुमेल कटाव की गिया, अँनगनि जरित की चौकी ।[5]

इतना ही नहीं, कुछ स्थलों पर तो अँगिया के अलग-अलग भागों के नामो का भी उल्लेख हुआ है जैसे माँडनी और अँतरौटा । अँगिया के सामने टँके हुए तिकोने साज को माँडनी या लहर कहते है और अँतरौटा अँगिया के सामने नीचे किनारे पर लटकती पट्टी को कहते हैं—

अँगिया नील, माँडनी राती, निरखत नैन चुराइ ।[6]
अँतरौटा अवलोकि कै, असुर महामद माते (हो) ।[7]

ओढ़नी, कंचुकी और लहँगे के अतिरिक्त एक-दो स्थानों पर सूथन शब्द भी मिलता है। क्योंकि इसका उल्लेख कम हुआ है, इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय सूथन पहनने की प्रथा अधिक प्रचलित न थी । सूथन का उल्लेख इस प्रकार हुआ—

सूथन जंघन बाँधि नाराबन्द, तिरनि पर छबि भारी ।[8]
नारा बन्दन सूथन जंघन। पाइनि नूपुर बाजत संघन ।[9]

नृत्य में घूंघट का अत्यधिक महत्व है । सूर-काव्य में भी घूँघट सम्बन्धी अनेक पद मिलते हैं । यह नेत्र-सम्बन्धी तथा रास पंचाध्यायी शीर्षक अंशों में अधिक प्रयुक्त हुआ है—

मनुँ घूँघट-पट में दूर बैठ्यौ, पारधि रति-पति ही कौ ।[10]

---

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 626 पद सं० 2172
2. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 223 पद सं० 3449
3. वही, पृ० 140 पद सं० 3068
4 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 608 पद सं० 2093
5 वही, पृ० 263, पद सं० 2158
6. वही, पृ० 493 पद सं० 1671
7 वही, पृ० 13 पद सं० 44
8 वही, पृ० 493 पद सं० 1672
9 वही, पृ० 530 पद सं० 1798
0 वही, पृ० 664 पद सं० 2320

रहत न घूंघट-ओट-भवन मैं, पलक कपाट दए ।[1]

सूर-काव्य में राधा और गोपियों की वेश-भूषा का उल्लेख ही नहीं मिलता अपितु कृष्ण, बलराम, नन्द और गोप आदि के वस्त्रों का उल्लेख भी कई स्थानो पर मिलता है। कृष्ण के वस्त्रों में सूरदास जी ने प्रधान रूप से उनके परम्परागत वस्त्राभूषणों का वर्णन किया है जैसे—पीताम्बर, काछनी, कुण्डल, मोर मुकुट, आदि। कृष्ण के वस्त्रों में धोती के लिए काछनी शब्द अनेक पदों मे प्रयुक्त हुआ है—

काछनी कटि पीतपट-दुति, कमल-केसर-खंड ।[2]
सुभग कटि काछनी राजति, जलज-केसरि-खंड ।[3]

कृष्ण के परम्परागत वस्त्रों में पीताम्बर उल्लेखनीय है। इसके पर्यायवाची शब्द के रूप में पीत-पट तथा पीत-बसन प्रयुक्त हुए हैं—

कोटी किंकिनी चंद्रमनि-संजुत। पीताम्बर, कटि-तट छवि अद्भुत ।[4]
कटि तट सुभग पीतपट राजत, अद्भुत वेष बनावत ।।[5]
ग्वाल-मंडली-मध्य स्यामघन, पीत बसन दामिनिहिं लजाए ।[6]

पीताम्बर शब्द कुछ पदों में धोती के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और कुछ पदों में उत्तरीय या दुपट्टे के अर्थ में, जैसे :—

पीताम्बर कटि-तट छवि अद्भुत ।[7]
मोर-मुकुट, कुंडल, बनमाला, पीताम्बर फहरावै ।[8]

कृष्ण के रूप में माधुर्य तथा शोभा सम्बन्धी पदों में वस्त्रों के साथ-साथ उनके आभूषणों का भी उल्लेख कई पदों में मिलता है। कृष्ण के कुण्डलों का आकार मकर के समान बताया गया है—

स्रुति मण्डल-कुण्डल मकराकृत, बिलसत मदन सदाई ।[9]
चलित कुण्डल गण्ड-मण्डल झलक ललित कपोल ।[10]

---

1. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 110 पद सं० 2916
2. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 84 पद सं० 307
3. वही, पृ० 388 पद सं० 1251
4. वही, पृ० 386 पद सं० 1243
5. वही, पृ० 582 पद सं० 1994
6. वही, पृ० 585 पद सं० 2.07
7. वही, पृ० 386 पद सं० 1243
8. वही, पृ० 589 पद सं० 2020
9. वही, पृ० 387 पद सं० 1244
10. वही, पृ० 387 पद सं० 1245

कृष्ण की परम्परागत वेश-भूषा में मुकुट का विशेष स्थान है। रूप-सौन्दर्य सम्बन्धी प्रत्येक पद में पीत पट तथा वेणु और कुण्डल के साथ मोर मुकुट का वर्णन अवश्य ही किया गया है—

मुख मुरली सिर मोर पखौवा, बन-वन धेनु चराई।[1]

कनक-मनि-मुकुट, कुण्डल, स्रवन, माल उर, अधर मुरली धरै नारि छाजै।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास जी ने अपने काव्य में रूप-सज्जा और वेश-भूषा को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। सूरसागर में शायद ही कोई पद हो जिसमें रूप-सज्जा और वेश-भूषा का चित्रण न हो। इसी गहन चित्रण के कारण सूरदास जी साहित्य में ही नहीं अपितु संगीत और नृत्य के क्षेत्र में सर्वोपरि स्थान रखते हैं।

1. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 319 पद सं० 3772
2. वही, पृ० 82 पद सं० 2769

सूर-काव्य में नख-शिख वर्णन और नायिका-भेद

नृत्य में सौन्दर्य का विशेष महत्त्व है। सौन्दर्य एक सार्वजनीन और सार्वकालिक अनुभूति है। नृत्य में सौन्दर्य सहृदय दर्शक को आकर्षित करता है और आनंद प्रदान करता है। सूरदासजी सौंदर्य के प्रति पूर्ण रूप से सचेत थे और उन्होंने कृष्ण और राधा के सौन्दर्य का विस्तृत चित्रण किया है। डा० रामेश्वर लाल खडेलवाल ने सूर की सौन्दर्य-दृष्टि की विवेचना करते हुए लिखा है—"सूरदास की दृष्टि में श्रीकृष्ण के सौन्दर्य के आगे महामुक्ति की भी कोई पूछ नहीं। उनकी दृष्टि में रूप को छोड़कर कोई दूसरा रक्षक नहीं। श्रीकृष्ण-रूप को देखे बिना सब संसार गोपियों को सूना लगता है। रूप के प्रभाव से द्रष्टा की सहज समाधि लग जाती है।"[1]

सौन्दर्य में अंग-प्रत्यंग का चित्रण किया जाता है और इस प्रकार के वर्णन के लिए साहित्य-जगत में दो शब्द मिलते हैं—नख-शिख वर्णन और शिख-नख वर्णन। नख-शिख वर्णन दिव्य-सौन्दर्य अथवा देव सौन्दर्य के वर्णन में प्रयुक्त होता है क्योंकि देव या ईश्वर का ध्यान उसके चरणों में नतमस्तक होकर ही किया जाता है। शिख-नख वर्णन मानव सौन्दर्य के वर्णन के लिए किया जाता है क्योंकि वहाँ भक्त और भगवान का सम्बन्ध नहीं होता; मानव-मानव का सम्बन्ध होता है जो बहुत कुछ समता पर आधारित है। जब दो मनुष्य मिलते है तो एक-दूसरे के मुख की ओर ही देखते हैं और इसलिए मानव सौन्दर्य मे वर्णन नख से आरम्भ न होकर, शिखा से प्रारम्भ किया जाता है। सूर-काव्य मे हमे दोनों प्रकार का वर्णन मिलता है। जहाँ सूर ने भक्त बनकर अपने आराध्य का सौन्दर्य वर्णन किया है, वहाँ नख-शिख वर्णन मिलता है और जहाँ सूर ने सख्य-भाव के अन्तर्गत रूप-चित्रण किया है वहाँ शिख-नख वर्णन मिलता है। निम्न दो पद प्रस्तुत हैं, प्रथम में नख-शिख वर्णन मिलता है और दूसरे में शिख-नख चित्रण मिलता है—

नटवर वेष काछे स्याम।
पद कमल नख-इन्द्र-सोभा, ध्यान पूरन काम॥
जानु जंघ सुघटनि करभा, नहीं रंभातूल।

---

1 डा० [illegible] प्रसाद [illegible] महाकवि सूरदास पृ० 126 से उद्धृत

पीत पट काछनी मानहु, जलज केसर झूल ।।
कनक छुद्रावली पंगति, नाभि कटि के भीर।
मनहु हंस-रसाल-पंगति, रहे हैं ह्रद तीर ।।
झलक रोमावली सोभा, ग्रीव मोतिनि हार।
मनहु गंगाबीच जमुना, चली मिलि त्रय धार ।।
बाहु दंड बिसाल तट दोऊ, अंग चंदन रैनु।
तीर तरु बनमाल की छवि, ब्रजजुवति सुख दैनु ।।
चिबुक पर अधरनि, दसन दुति बिम्ब बीजु लजाई।
नासिका सुक, नैन खंजन, कहत कबि सरमाई ।।
स्रवन कुण्डल कोटि-रवि-छवि भृकुटि काम को दंड।
सूर प्रभु हैं नीप कैं तर, सीस धरे सिखंड ।।[1]

हम देखे इहि भाँति कन्हाई।
सीस सिखंड अलक बिथुरे मुख, कुण्डल स्रवन सुहाई ।।
कुटिल भृकुटि लोचन अनियारे, सुभग नासिका राजत।
अरुन अधर दसनावलि की दुति, दाड़िम कन तन लाजत ।।
ग्रीव हर मुकुता, बनमाला, बाहुदंड गजसुंड।
रोमावली सुभग बगपंगति, जाति नाति नाभि ह्रद झुंड ।।
कटि पट पीत, मेखला कंचन, सुभग जंघ, जुग जानु।
चरन कमल नख चंद नहीं सम, ऐसे सूर सुजानु ।।[2]

अब हम सूर-काव्य में उल्लिखित नख-शिख वर्णन पर विचार करेंगे।

ण-वर्णन

चरण के वर्णन अधिकतर चरणों की लाली और कोमलता का वर्णन ः
परम्परा है। सूर ने भी अपने काव्य में चरण-वर्णन इस प्रकार किया है
बंधुक-सुमन-अरुन-पद-पंकज, अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए।[3]
अरुन चरन नख जोति जगमगति, रुन-झुन करति पाइँ पैजनियाँ।[4]
चरन रुनित नूपुर, कटि किंकिन, कंकन करतल ताल।[5]

-वर्णन

नख-शिख वर्णन नख से आरम्भ होता है। सूरदास जी ने नख का व

रसागर (दूसरा भाग) पृ० 2 पद सं० 2373
ही, पृ० 6 पद सं० 2393
रसागर (पहला भाग) पृ० 241 पद सं० 722
ही, पृ० 241 पद सं० 724
ही पृ० 514 पद सं० 1754

इस प्रकार किया है—

अरुन चरन नख जोति जगमगति ।[1]
पृथु नितम्ब करभोरु कमल पद, नख-मनि चंद अनूप ।[2]

चिबुक-वर्णन

नख-शिख वर्णन में चिबुक-वर्णन की परम्परा प्रायः नहीं है। पर सूरदास जी ने अपने पदों में चिबुक का भी वर्णन किया है—

रुचिर चिबुक-द्विज-अधर नासिका अति सुन्दर राजति सुबरनियाँ ।[3]
चिबुक मध्य स्यामल रुचि बिन्द। देखि सबनि रीझे गोबिन्द ।[4]

अधर-वर्णन

अधर वर्णन के प्रसंग में कवियों ने अधरों की मधुरता का चित्रण किया है। सूर के पदों में भी हमें अधरों की मधुरता और सरसता का आभास होता है—

सरस अधर पल्लव बने ।[5]
विकसत ज्योति अधर बिच मानों बिधु मैं बिज्जु उज्यारी ।[6]
अधर बिम्ब बर, मधुर सुधाकन, प्रीतम बदन समात ।[7]

दन्त-वर्णन

दन्तपंक्ति के सौन्दर्य में उनका शिखरी तथा समपंक्ति और उनकी चमक ही कवि परम्परा में वर्ण्य-विषय रहे हैं। सूरदास जी ने भी दाँतों की चमक का चित्रण अनेक पदों में किया है—

दमकति दूध दँतुलिया बिहँसत मनु सीपज घर कियौ बारिज पर ।[8]
दूध-दंत-दुति कहि न जाति, कछु अद्भुत उपमा पाइ ।[9]
दसन-कुंद दाड़िम, दुति दामिनि, प्रगटत अरु दूरि जात ।[10]

कपोल-वर्णन

गुलाबी चेहरे में कपोलों का रंग सुकुमारता और लजीलेपन का संयोग

---

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 241 पद सं० 724
2. वही, पृ० 514 पद सं० 1754
3. वही, पृ० 242 पद सं० 724
4. वही, पृ० 530 दप सं० 1798
5. वही, पद सं० 1798
6. वही, पृ० 238 पद सं० 709
7. वही, पृ० 514 पद सं० 1754
8. वही, 238 पद सं० 709
9. वही, पृ० 242 पद सं० 726
10. वही 514 पद स० 1754

वास्तव में सर्वाधिक वशीकरण होता है। सूर के पदों में कपोलों को चारु और ललित कहकर चित्रित किया गया है—

चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिए।[1]
मनि कुंडल ताटंक विलोल। बिहँसत लज्जित ललित कपोल।[2]
स्यामल गौर कपोल सुचारु। रीझि परस्पर लेत उगारु।[3]

नासिका-वर्णन

नायिका का प्रत्येक अवयव आकर्षक होता है। यदि तिरछे नेत्र हृदय को बींधते हैं तो नायिका की शुक जैसी चारु नासिका भी हृदय को बेंध सकती है—

नासिका सुक, नैन खंजन, कहत कबि सरमाइ।[4]
चपल नैन बिच चारु नासिका, इकटक दृष्टि रही तहँ लाई।[5]

नेत्र-वर्णन

बाह्य तथा आभ्यंतर दोनों प्रकार के सौन्दर्य-वर्णन में नेत्रों का स्थान सर्वोच्च है। शृंगार रस में इनका महत्त्व अनिर्वचनीय है। संसार के प्राय. समस्त कवियों ने नेत्रों के बाह्य वर्णन और उनके द्वारा प्रेमानुभव को महत्त्व दिया है। हिन्दी में भी अनेक कवियों ने नख-शिख वर्णन में नेत्रों के सौन्दर्य तथा चेष्टाओं के सजीव तथा हृदयाकर्षक चित्र खींचे हैं। इन सब वर्णनों मे सूर का नेत्र-वर्णन अत्यन्त उच्च कोटि का कहा जा सकता है। इसमें रमणीय कवि-कल्पनाएँ, अलंकार का सामंजस्यपूर्ण योग, सानुप्रास सशक्त भाषा—ऐसे तत्त्व हैं जिनका हिन्दी साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सूर-काव्य में नेत्र-वर्णन सैकड़ों पदों में मिलता है—

चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिए।[6]
भुज भुजंग, सरोज नैननि बदन बिधु जित लरनि।[7]
बदन प्रभामय चंचल लोचन, आनन्द उर न समात।[8]
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।[9]

---

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ॰ 240 पद सं॰ 717
2. वही, पृ॰ 530 पद सं॰ 1798
3. वही, पृ॰ 532 पद सं॰ 1798
4. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ॰ 2 पद सं॰ 2373
5. वही, पृ॰ 13 पद सं॰ 2428
6. सूरसागर (पहला भाग) पृ॰ 240 पद सं॰ 717
7. वही, पृ॰ 242 पद सं॰ 727
8. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ॰ 12 पद सं॰ 2423
9. सूरसागर (पहला भाग) पृ॰ 397 पद सं॰ 1290

भृकुटि-वर्णन

भृकुटि का वर्णन नेत्रों से मिलकर ही किया जाता है और भृकुटि का मरोड आकर्षक माना गया है। सूर-काव्य में भी भृकुटि का अनेक पदों में चित्रण मिलता है—

भृकुटि बिकट ललित नैननि पर।[1]
कुटिल भृकुटि, सुख को निधि आनन।[2]
भृकुटि बिकट निकट नैननि कैं।[3]

मस्तक-वर्णन

सूर के पदों में मस्तक का वर्णन भी मिलता है। सूर ने मस्तक के लिए 'भाल' शब्द का अधिक प्रयोग किया है—

नील, सेत अरु पीत, लाल मनि लटकत भाल रुनाई।[4]
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास जी ने नख-शिख वर्णन में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। शरीर के विभिन्न अवयवों का उन्होंने कल्पनामय चित्रण किया है। निम्नलिखित पद में सूरदास जी ने रूपकातिशयोक्ति द्वारा राधा का नख-शिख वर्णन किया है—

अद्‌भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज बर क्रीड़त, ता पर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृतफल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृग मद काग।
खंजन, धनुष, चन्द्रमा, ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥[6]

इस पद में दो कमल दो पैरों के लिए गिरिवर उरोज के लिए, कंज पराग उन पर चर्चित चन्दन के लिए, कपोत ग्रीवा के लिए, अमृत फल चिबुक के लिए, पुष्पनथ कपोल के लिए, पल्लव अधरों के लिए, शुक नासिका के लिए, पिक मधुर वाणी के लिए, मृगमद चिबुक तिल के लिए, काग कान के लिए,

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 238 पद सं० 711
2. वही, पृ० 242 पद सं० 724
3. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 73 पद सं० 2732
4. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 242 पद सं० 726
5. वही, पृ० 397 पद सं० 1290
6. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 72 पद सं० 2728

खंजन नेत्र के लिए धनुष भौंहों के लिए, चन्द्रमा भाल के लिए और मणिधर नागमणि-ग्रथित चोटी के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास जी ने नख-शिख वर्णन बहुत ही सुन्दरता और सजीवता से प्रस्तुत किया है। उनका नख-शिख वर्णन विश्व-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है।

नायिका-भेद

विश्व-साहित्य के उद्यान में जो सौरभ नारी पुष्पों ने विकीर्ण किया है, उसका महत्त्व निश्चय ही असंदिग्ध है। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर अद्यतन कवियों ने सौन्दर्योपासना के लिए नारी को मधुर आलम्बन के रूप में प्रायः स्वीकार किया है। काव्य, नाटक और कामशास्त्र के लेखकों ने अब तक नारी के विविध रूपों, अवस्थाओं, मनोदशाओं तथा स्वभावों का उल्लेख किया है। नारी के इन त्रिविध रूपों, रूपाकृति-विषयक चिन्तन को ही काव्यशास्त्रियों ने 'नायिका भेद' से अभिहित किया।

जिस समय सूरदास ने काव्य रचना प्रारम्भ की उस समय तक हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से नायिका-भेद पर अधिक एवं विशद रूप से कार्य नहीं हो पाया था। सूर के शृंगार-वर्णन के अन्तर्गत कुछ ऐसे प्रसंग मिल जाते हैं, जिनमें नायिका-भेद की झलक मिलने लगती है। ऐसे रूपों के चित्रण में कवि मनोवैज्ञानिकता के स्थान पर काव्यशास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करता हुआ प्रतीत होता है।

वचन-विदग्धा नायिका

चतुरता पूर्वक क्रिया अथवा वचन से जो पर पुरुषानुराग का संकेत करती है, वह वचन-विदग्धा कहलाती है। सूर के निम्नलिखित पद में हमें वचन-विदग्धा नायिका की झलक दिखाई देती है—

तब राधा इक भाव बतावति।
मुख मुस्काई सकुचि पुनि लीन्हों, सहज चली अलकें निरूवारनि॥
एक सखी आवत जल लीन्हें, तासों कहति सुनावति।
हरि-कह्यौ घर मेरे जैहों मैं जमुना तैं आवति॥
तब सुख पाइ चले हरि घर कौ हरि प्रियतमहिं मनावति।
सूरज प्रभु वितपन्न कोक गुन ताते हरि-हरि ध्यावति॥[1]

उपर्युक्त पद में राधा अपनी सखी को सम्बोधित करते हुए कृष्ण को संकेत करती है कि मैं यमुना से अभी लौटकर आती हूँ, तुम मेरे घर चलना।

---

1. सूरसागर (दूसरा भाग) 56-57 पद सं० 2642

अभिसारिका नायिका

शृंगार से सुसज्जित होकर, कामार्त होकर स्वयं नायक के पास जाने वाली अथवा उसे अपने पास बुलाने वाली नायिका अभिसारिका कहलाती है—

प्यारी अंग सिंगार कियौ ।
बेनी रची सुभग कर अपनैं, टीका भाल दियौ ।।
मोतिनी माँग सँवारि प्रथमहिं, केसर आड सँवारि ।
लोचन आँजि, स्रवन तरिवन छवि, को कवि कहै निवारि ।।
नासा नथ अतिहिं छवि राज अधरनि बीरा रंग ।
नव सत साजि चीर चोली बनि, 'सूर' मिलन हरि संग ।।[1]

इस पद में राधा की शृंगार-सज्जा का वर्णन है और वह सुसज्जित होकर अपने प्रियतम श्रीकृष्ण से मिलने आ रही है ।

विप्रलब्धा नायिका

संकेत-स्थल पर जाने पर जिस नायिका को उसका प्रियतम नहीं मिलता और वह दु:खी होती है, ऐसी नायिका को विप्रलब्धा कहते हैं—

राधा चकृत भई मन माहिं ।
अबहिं स्याम द्वार ह्वै झाँके, ह्याँ आए क्यों नाहिं ।।
आपु न आइ तहाँ जो देखौं, मिले न नंद कुमार ।
आवत ही फिरि गए स्यामघन, अति ही भयौ विचार ।।
सूनैं भवन अकेली मैं ही, नीकैं उझकि निहार्‌यौ ।
मोतैं चूक परी मैं जानी, तातैं मोहिं बिसारयौ ।।
इक अभिमान हृदय करि बैठी, एते पर झहरानी ।
'सूरदास' प्रभु गए द्वार ह्वै, तब व्याकुल पछितानी ।।[2]

उपरिलिखित पंक्तियों में राधा अपने नायक श्री कृष्ण के संकेत-स्थल पर न मिलने के कारण व्यथित हो रही है ।

उतकंठिता नायिका

केलि स्थान में नायक की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करने वाली नायिका को उत्कंठिता कहते हैं—

ललिता को सुख दै गए स्याम ।
आजु बसैगे रैनि तिहारैं प्रान पियारी हौं तुम बाम ।।

---

1. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 57 पद सं० 2645
2 वही 66 पद स० 2693

यह कहि के अन्तहिं पगु धारै, बहु नायक के भेद अपार।
साँझ समय आवन कहि आए, सौहें बहुत करि नन्द कुमार।।
वह बैठी मारग हरि जोवति, इक इक पल बीतत इक जाम।
'सूर' स्याम आवन की आसा, सेज सँवारति व्याकुल काम।।[1]

प्रस्तुत पंक्तियों में नायिका राधा श्री कृष्ण की प्रतीक्षा में निमग्न है क्योंकि नायक श्री कृष्ण उससे मिलने का वायदा करके गए हैं।

वासक सज्जा नायिका

अपने प्रियतम का निश्चित मिलन जानकर उससे मिलने के लिए साज-शृंगार और संभोग सामग्री एकत्रित करने वाली नायिका वासक सज्जा कहलाती है—

राधा रचि रचि सेज सँवारति।
तापर सुमन सुगन्ध बिछावति, वारंबार निहारति।।
भवन गवन करिहै हरि मेरै हरषि दुखहिं निरुवारति।
आवैं कबहुँ अचानक ही कहि, सुभग पाँवड़े डारति।।
इहिं अभिलाखहिं मैं हरि प्रगटै, निरखि भवन सकुचानी।
वह सुख श्री राधा माधौ कौ 'सूर' उनहिं जिय जानी।।[2]

उपरिलिखित पद में राधा कृष्ण के आगमन तथा मिलन को सुनिश्चित समझ कर अपने अंग-प्रत्यंग की सज्जा करती है तथा सेज को सँवारकर श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा करती है। श्री कृष्ण के आगमन पर राधा के मन में लज्जा का सचार होता है और फिर एक ओर रति-नागर श्रीकृष्ण और दूसरी ओर रति-नागरी राधा मिलकर सुरति केलि में तल्लीन हो जाते हैं।

खण्डिता नायिका

अन्य नायिका के संभोग चिह्नों को अपने प्रियतम के शरीर पर देखकर ईर्ष्या से जो नायिका जल उठे, उसे खण्डिता नायिका कहते हैं—

प्यारी चितै रही मुख पिय को।
अंजन अधर कपोलनि बंदन, लाग्यौ काहू त्रिय को।।
तुरत उठी दर्पन कर लीन्हें, देखौ बदन सुधारौ।
अपनौ मुख उठि प्रात देखिकै, तब तुम कहूँ सिधारौ।।

सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 146 सं० 3096
वही पृ० 57 पद स 2647

काजर, बंदन, अधर कपोलनि, सकुचे देख कन्हाई ।
सूर-स्याम नागरि मुख जोवति, वचन कह्यौ नहिं जाई ।।[1]

उपर्युक्त पद में नायिका राधा श्रीकृष्ण के अधरों पर अंजन और कपोलों पर चन्दन के चिह्न देखकर ईर्ष्या से जल उठती है ।

मानवती नायिका

अपने प्रियतम को अन्य स्त्री की ओर आकर्षित जानकर दु:खी होकर मान करने वाली नायिका को मानवती कहते हैं—

मन-मन पछितायौं रहि जैहै ।
सुनि सुन्दरि यह समौ गए तैं, पुनि न सूल सहि जैहै ।।
मानहु मैन-मजीठ प्रेम-रंग, तैसे ही गहि जैहै ।
काम हरष, हरेरे हरि अम्बर, देखत ही बहिजैहै ।।
इते भेद की बात सखी री, कंत कोऊ कहि जैहै ।
बरत भवन खनि कूप त्यौं, मदन-अगिनि दहि जैहै ।।[2]

प्रोषित पतिका नायिका

प्रवासी प्रियतम की विरहिणी नायिका को प्रोषित पतिका नायिका कहते हैं—

बिछुरे री मेरे बाल सँघाती ।
निकसि न जात प्रान ये पापी, फाटति नाहिन छाती ।।
हौं अपराधिनि दही मथति ही, भरी जोबन मदमाती ।
जो हौं जानति हरि कौ चलिबौ, लाज छाँड़ि संग जाती ।।
ढरकत नैन नीर भरि सुंदरि, कछु न सोह दिन राती ।
'सूरदास' प्रभु दरसन कारन सखि मनि मिलि लिखि पाती ।।[3]

उपरिलिखित पद में नायिका नायक के प्रवास में होने के कारण विरहाग्नि में जल रही है ।

कलहान्तरिता नायिका

नायक के साथ कलह करके तथा उसका अपमान करके फिर अपने किए पर पछताने वाली नायिका को कलहान्तरिता नायिका कहते हैं—

1. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 146-147 पद सं० 3100
2. वही, पृ० 165 पद सं० 3198
3. वही पृ० 364 पद स० 3999

सखी मिलि करौ कछुक उपाउ ।
मार मारन चढ़्यौ बिरहिनि, निदरि पायौ दाउ ।।
हुतासन धुज जात उन्नत, चल्यौ हेरि दिस बाउ ।
कुसुम-सुर-रिपु-नंद-बाहन, हरषि हरषित गाउ ।।
बारि भव-सुत तासु भावरी, अब न करिहौं काउ ।
बार अब की प्रान प्रीतम, विजय सखा मिलाउ ।।
रति बिचारि जु मान कीन्हौं, सोउ बहि किन जाउ ।
'सूर' सखी सुभाउ रहिहौं, संग सिरोमनि राउ ।।[1]

इन पंक्तियों में नायिका अपने नायक के प्रति किए गए व्यवहार के कारण पश्चात्ताप करती है तथा सखियों से नायक को मनाने के लिए कोई उपाय बताने को कहती है ।

उपरोक्त नायिकाओं के अतिरिक्त सूरदास ने अपने काव्य में स्वकीया और परकीया नायिकाओं का भी चित्रण किया है । सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार सूरदास जी ने स्वकीया का अधिक वर्णन किया है परन्तु परकीया भक्ति के भी अनेक उदाहरण उनकी रचनाओं में मिल जाते हैं । इस प्रकार सूर-काव्य में हमें नायिका-भेद का विस्तृत चित्रण उपलब्ध होता है ।

---

1. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 67-68 पद सं० 2703

सूर-काव्य में वाद्य-यन्त्र

नृत्य और वादन का चोली-दामन का साथ है। जैसे चित्रकला के लिए रंग, तूलिका आदि, मूर्तिकला के लिए हथौड़ा, छेनी महत्त्वपूर्ण हैं, उसी प्रकार नृत्य में भी वाद्य-यंत्रों का विशेष महत्त्व है। नृत्य की चाहे कोई भी शैली हो और कोई भी रूप हो, तकनीकी, सामाजिक, कलात्मक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से वादन का सहयोग उसके लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु उसका अविभाज्य अंग है।

वादन के माध्यम के अनुसार वाद्य के चार प्रकार माने जाते है—तत, वितत, घन और सुषिर। तत वाद्य वे हैं जो तंत्रियों से युक्त होते हैं। इनको बजाने के लिए कोण, गज या उँगली का प्रयोग किया जाता है। वीणा, तम्बूरा, सितार, वायलिन इसी श्रेणी के वाद्य हैं। वितत वाद्य वे हैं जो चमड़े से मढे हुए होते हैं और आघात किए जाने से बजते हैं। यह आघात हाथ से, दण्ड से अथवा अन्य किसी माध्यम से किया जा सकता है। इन्हीं को आनद्ध अथवा अवनद्ध वाद्य भी कहते हैं डमरू, डफ, दुंदुभी, ढोलक, मृदंग तथा तबला इसी वर्ग के वाद्य हैं। घन वाद्य वे हैं जो प्राय: धातु या काष्ठ से निर्मित होते हैं और इनमें ध्वनि आघात-जन्य होती है। झाँझ, मंजीरा, करताल, घंटा, जल-तरंग आदि इसी श्रेणी के वाद्य हैं। सुषिर वाद्य वे हैं जिनमें छिद्रों में हवा फूँक कर स्वर निकाले जाते हैं। वेणु, वंशी, शहनाई आदि वाद्य इसी श्रेणी के अंतर्गत आते हैं। सूर-काव्य में नृत्य सम्बन्धी पदों में हमें उपरोक्त चारों तरह के वाद्यों के नाम स्थान-स्थान पर मिलते हैं। इनसे तत्कालीन संगीत ज्ञान तथा प्रचलित वाद्यो पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है तथा उस समय ब्रज में लोकप्रिय तथा रास-नृत्य में प्रयुक्त होने वाले वाद्य-यन्त्रों का पता चलता है। सूर-काव्य में जिन वाद्य-यन्त्रों का उल्लेख हुआ है उनमें से कुछ तो बहुत प्राचीन हैं और उनको आज संगीत समाज में देख भी नहीं पाते। परन्तु आश्चर्य की बात है कि "यद्यपि उस समय सितार और तबले का प्रचलन संगीत समाज में हो गया था परन्तु सूरदास ने इन्हें अपनाया नहीं।"[1]

सूर-काव्य मे कृष्ण-जन्म तथा उस से सम्बन्धित उत्सवों, रासलीला, बसन्त तथा फाग जैसे उत्सवों आदि प्रधान प्रसंगों में नृत्य से सम्बन्धित वाद्य-यन्त्रों की शब्दावली मिलती है। इन पदों में वाद्य-यन्त्र के नाम एक साथ दिए गए है और

1. डा० लक्ष्मीनारायण गर्ग : निबन्ध संगीत, पृ० 544

कई एक पदों की रचना एक-एक वाद्य-यन्त्र को लेकर भी की गई है। सूर-काव्य में बाजे, बाजन तथा साज शब्द वाद्य-यन्त्रों के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं—

संख भेरि निसान बाजे बजैं बिबिध सुहावने।[1]
रुंज मुरलि डफ दुंदुभी, बाजैं बहु बिधि साज।[2]

सूर-काव्य में हमें तत, वितत, घन और सुषिर सभी वाद्य-यन्त्रों का उल्लेख मिलता है। वाद्य-यन्त्रों से सम्बन्धित नामावली की व्याख्या उपर्युक्त चार भागों में सुगमता के लिए निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

(क) तत वाद्य

तत वाद्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन वाद्य है। तन्तु-युक्त बाजे की तारों को नाखून, मिजराब, अथवा घोड़े के बालों वाली कमान से झंकृत करके स्वर-माधुर्य उत्पन्न किया जाता है। मध्य युग तक सभी तंतु वाद्यों को 'वीणा' कहा जाता था। वीणा का वर्णन वैदिक काल से ही मिलता है और प्राचीन काल में इसके कई रूप प्रचलित थे। 'संगीत रत्नाकर' में वीणा के दस भेद दिए गए हैं और 'संगीत-पारिजात' में आठ भेद। इन भेदों में से कुछ नाम सूरसागर में भी मिल जाते हैं जैसे किन्नरी और सुरमंडल। किन्नरी वीणा का अत्यधिक सरल रूप था। होली के उल्लासमय वातावरण में सूर ने अन्य वाद्यों के साथ किन्नरी का उल्लेख किया है।

इक गावत, इक भावत, इक नाचत इक राँचत इक कर
मिरदंग तार गति जति उपजावैं।
इक बीना एक किन्नरि, इक मुरली इक उपंग इक तूंबुर
इक रबाब, भाँति सौं बजावैं।।[3]

उपरोक्त पंक्तियों में तुंबुर और रबाब वाद्य का उल्लेख हुआ है जो कि तत वाद्य की श्रेणी के अन्तर्गत ही आते हैं। रास नृत्य के पदों में भी रबाब वाद्य का जिक्र हुआ है—

मुरली मुरज रबाब उपंग। उघटत सब्द बिहारी संग।[4]

अष्टछाप काव्य में अमृत कुण्डली वाद्य का उल्लेख काफी अधिक मात्रा में हुआ है किन्तु उपलब्ध संगीत-ग्रन्थों में इसका नाम नहीं मिलता। अष्टछाप

---

1. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 538 पद सं० 4804
2. वही, पृ० 254. पद स० 3523
3. वही, पृ० 244 पद सं० 506
4. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 531 पद सं० 1798

कवियों के पदों से ऐसा ज्ञात होता है कि इस नाम का भी कोई वाद्य था। "संभव है यह ब्रज का कोई लोकवाद्य हो और कुछ दिन जीवित रह कर काल-कवलित हो गया हो।"[1] सूर-काव्य में अन्य अष्टछाप कवियों की तरह अमृत कुण्डली वाद्य का बहुत पदों में उल्लेख हुआ है। होली के उल्लासमय वातावरण में जब सब मिलकर गाते और नाचते हैं तो अमृत कुण्डली वाद्य के बजाने का सूर ने इस प्रकार जिक्र किया है—

इक पटह इक गोमुख, इक आउझ इक झल्लरि, इक
अमृत कुण्डली इक डफ कर धारैं।[2]

यद्यपि यन्त्र का सामान्य अर्थ कोई भी वाद्य-यन्त्र होता है परन्तु कुछ मध्य युगीन सन्तों के पदों तथा अन्य उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि यन्त्र नाम का कोई विशेष वाद्य भी था। सूर-काव्य में भी इसका उल्लेख हुआ है—

रुंज, मुरज डफ झाँझ झालरी, जंत्र पखावज तार।[3]

(ख) वितत वाद्य

जो वाद्य भीतर से पोले और चमड़े से मढ़े हुए होते हैं और हाथ या किसी अन्य वस्तु के ताड़न से शब्द उत्पन्न करते हैं, उन्हें वितत अथवा आनद्ध वाद्य कहते हैं। संगीत ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न नामों से अनेक प्रकार के वितत वाद्यों का वर्णन मिलता है। महर्षि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में वितत जाति के वाद्यों की संख्या एक सौ बताई है। सूर-काव्य में भी काफी संख्या में वितत वाद्यों का उल्लेख हुआ है।

सूर-काव्य में मृदंग का उल्लेख बहुत बार हुआ है। भगवान शंकर द्वारा मृदंग का आविष्कार माना जाता है। मुरज को मृदंग का ही पर्याय माना गया है।[4]

सुर ताल उरु नृत्य ध्याइ, पुनि मृदंग बजाई।[5]
बाजत भूषन ताल मृदंग। अंग दिखावत सरस सुधंग।[6]
मुरली मुरज रबाब उपंग। उघटत सब्द बिहारी संग।[7]

मृदंग से ही मिलता-जुलता वाद्य पखावज वितत वाद्यों की श्रेणी में आता

1. डा० लालमणि मिश्र : भारतीय संगीत वाद्य, पृ० 30
2. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 244 पद सं० 3506
3. वही, पृ० 248, पद सं० 3513
4. डा० लालमणि मिश्र : भारतीय संगीत वाद्य, पृ० 88
5. सूरसागर (पहला भाग) पृ० सं 518 पद सं० 1769
6. वही, पृ० 531 पद सं० 1798
7. वही, पृ० 531 पद सं० 1798

है जिसका फाग के उत्सव आदि प्रसंगों में उल्लेख हुआ है—

रुंज मुरज डफ झाँझ झालरी, जन्त्र पखावज तार ।[1]

सूर-काव्य में कृष्ण-जन्मोत्सव और होली आदि पर्वों पर ढोल, रुंज, डफ, डिमडिम, और पटह का बार-बार उल्लेख हुआ है। ढोल का जिसे आजकल ढोलक भी कहते हैं, घरेलू मांगलिक कार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है—

डिमडिम, पटह, ढोल, डफ, बीना मृदंग चंग अरु तार ।[2]

सूर ने अपने पदों में आउझ अथवा आवझ और दुंदुभि का भी उल्लेख किया है। आवझ ढोलक के समान चमड़े से मढ़ा होता है और दुदुभि एक ताल वाद्य है जो तबले के समान जोड़ी वाला वाद्य है। दुदुभि को ब्रज में झील और अधौटी भी कहते हैं। दुंदुभि मांगलिक वाद्य है, अतएव जन्मोत्सव, विवाह अथवा पूजा आदि के समय मन्दिरों में बजाने की प्रथा है। रास-नृत्य के समय दुंदुभि वाद्य बजाने का संकेत इस प्रकार दिया है—

बरषत सुमन देवगन हरषत, दुंदुभि सरस बजीली।
सूर स्याम-स्यामा रस क्रीड़त, जमुना-तरंग थकीली ।[3]
दुंदुभि ढोल पखावज आवझ, वाजत डफ मुरली रुचिकारी ।[4]

भेरी वाद्य का उल्लेख भी कृष्ण-जन्मोत्सव तथा फाग में विशेष रूप से देखने को मिलता है। भेरी भी मृदंग से मिलता-जुलता वाद्य है। सूरसागर में भेरी का वर्णन कई स्थानों पर हुआ है—

पुर घर-घर भेरी मृदंग, पटह निसान बजे ।[5]
बिच बिच भेरी झिमझिमी, सब्द सुघोष समाज ।[6]

उपर्युक्त पंक्तियों में निसान वाद्य का उल्लेख हुआ है। सूर ने प्रायः जन्मोत्सव तथा वर्षा ऋतु में बादलों की गर्जना की तुलना निसान के नाद से की है। निसान युद्ध में वीरों को प्रोत्साहन देने वाला वाद्य है। अन्य कवियों ने प्रायः रणक्षेत्र के वर्णन में निसान का विशेष रूप से उल्लेख किया है। रास नृत्य के पदों में भी सूर ने निसान वाद्य का उल्लेख किया है—

बजे देवलोक नीसान। बरषत सुमन करत सुर गान ।[7]

---

1 सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 248 पद सं० 3513
2 वही, पृ० 254 पद सं० 3524
3 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 520 पद सं० 1778
4 सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 247 पद सं० 3511
5 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 218 पद सं० 642
6 सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 254 पद सं० 3523
7 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 530 पद सं० 1798

श्री कृष्ण की वंशी, सरस्वती की वीणा तथा शंकर के डमरू को हिन्दू धर्म-ग्रन्थों और साहित्य में आध्यात्मिक महत्त्व प्रदान किया गया है। कहते हैं कि ताण्डव नृत्य के समय शिव जी डमरू बजाते हैं। सूर ने अपने पदों में शिव के रूप में बाल कृष्ण का वर्णन करते हुए तथा शंकर के अपमान की सूचना देते हुए डमरू का निम्नलिखित उल्लेख किया है—

खुन खुना कर, हँसत हरि हर नचत डमरू बजाइ।[1]

कृष्ण भक्त कवियों ने उपंग नामक वाद्य का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है किन्तु प्राचीन संगीत ग्रन्थों में इसका कहीं भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। सूर ने भी अन्य कृष्ण भक्त कवियों की तरह इस वाद्य का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। फाग उत्सव तथा रास नृत्य के पदों में विशेष कर इसका जिक्र हुआ है—

इक बीना इक किन्नरि इक मुरली इक उपंग इक तुंबुर
इक रबाब, भाँति सौं बजावैं।[2]
मुरली मुरज रबाब उपंग। उघटत सब्द बिहारी संग।[3]

(ग) सुषिर वाद्य

सुषिर वाद्यों में वायु के दबाव को घटा-बढ़ा कर स्वर ऊँचा-नीचा किया जाता है और उसमें तीनों सप्तकों की रचना की जाती है। अन्य वाद्यों की तरह सुषिर वाद्यों के नामों का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न मिलता है।

भगवान श्री कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करने वाला कोई कवि ऐसा नहीं जिसने मुरली अथवा वंशी के कोमल, रसीले, मनोमुग्धकारी स्वरों और उनके प्रभाव का वर्णन न किया हो। कृष्ण का प्रिय वाद्य यन्त्र होने के कारण सूरसागर में मुरली शीर्षक अनेक पद हैं तथा इनके बहुत से पर्यायवाची नाम मिलते हैं। मुरली का रूपक रूप में भी चित्रण है जो दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पर्यायवाची शब्दों में बंसी, बाँसुरी, मुरलिका, वेनु आदि उल्लेख-नीय हैं—

बंसी री बन कान्ह बजावत।[4]
बाँसुरी बजाइ आछे, रंग सौं मुरारी।[5]

---

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 258, पद सं० 788
2. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 244 पद स० 3506
3. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 531 पद सं० 1798
4. वही, पृ० 392, पद सं० 1266
5. वही, पृ० 392 पद सं० 1267

मेरे साँवरे जब मुरली अधर धरी । सुनि सिव-समाधि टरी ।[1]
स्याम तुम्हारी मदन-मुरलिका, नैसुक सो जग मोह्यो ।[2]
तू जो कह्यौ ऐसौ वेनु, इहाँ नाहिं तेरी ।[3]

सूरसागर में कुछ मुरली पदों में गोपियों द्वारा मुरली के नीच वंश मे जन्म लेने पर बार-बार व्यंग्य करने का उल्लेख मिलता है—

सुनहु री मुरली की उत्पत्ति ।
बन में रहति, बाँस कुल याकौ, यह तौ याकी जत्ति ।[4]

परन्तु कहीं-कहीं इष्टदेव की मुरली को सुवर्ण की और रत्न-खचित बताने का प्रलोभन भी कवि त्याग नहीं पाया—

मोहन मुरली अधर धरी ।
कंचन मनिमय रचित, खचित अति, कर गिरिधर परी ।[5]

शहनाई शब्द से ही स्पष्ट है कि यह वाद्य विशेष मुसलमानी संस्कृति की देन है। यह मांगलिक वाद्य है और शुभ अवसरों पर बजाया जाता है। आज-कल भी विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर इस की ध्वनि सुनने को मिलती है। सूरसागर में भी कृष्ण-जन्म के समय शहनाई वाद्य का उल्लेख हुआ है—

घुरत निसान, मृदंग-संख-धुनि, भेरि-झाँज-सहनाई ।[6]
बाजत पवन-निसान पंच बिध, रुंज-मुरज-सहनाई ।[7]

शंख भारत का अति प्राचीन सुषिर वाद्य है। वैदिक युग से ही इसका प्रयोग धार्मिक कार्यों तथा युद्ध आदि में होता आया है। शंख अथवा कंबु का फाग के अतिरिक्त जन्मोत्सव तथा विवाह-प्रसंगों में उल्लेख है—

संख भेरि निसान बाजे बजैं बिबिध सुहावने ।[8]

भौमासुर बध में भी शंख का उल्लेख हुआ है—

करी हरि संख धुनि जग्यौ तब असुर सुनि ।[9]

---

1 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 385 पद सं० 1241
2 वही, पृ० 394 पद सं० 1274
3. वही, पृ० 287 पद सं० 902
4 वही, पृ० 550 पद सं० 1845
5 वही, पृ० 550 पद सं० 1845
6 वही, पृ० 162 पद सं० 473
7 वही, पृ० 216 पद सं० 640
8 सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 538 पद सं० 4804
9 वही, पृ० 544 पद सं० 4812

होली वर्णन में हमें महुवरि मुहचंग और गोमुख वाद्यों का वर्णन भी मिलता है। महुवरि को पुंगी, जिजीवी, तुम्बी या बीन भी कहते हैं। देश में सर्वत्र ही सँपेरे लोग इसका प्रयोग करते है—

> मुहुवरि बाँसुरी चंग, लाल रंग होरी।[1]
> आउझ बर मुहचंग, नैन सलोने री रंगराँची ग्वालिनि।[2]
> इक पटह इक गोमुख, इक आउझ इक झल्लरि।[3]

(घ) घन वाद्य

वे वाद्य जो ठोकर लगाकर बजाए जाते हैं, घन वाद्य कहलाते हैं। इस प्रकार के वाद्य प्रायः सभी ताल वाद्य हैं। ये वाद्य प्रायः काँसे, पीतल, या लकड़ी के बने हुए होते हैं। इसमे काँसे के बने हुए वाद्यो से सर्वश्रेष्ठ ध्वनि निकलती है। संगीत-दामोदर में बारह घन वाद्यों का वर्णन हुआ है। अष्टछाप के कवियों ने थोड़े से ही घन वाद्यों का उल्लेख किया है। सूरदास ने भी अपने काव्य में घन वाद्यों का कुछ स्थानों पर उल्लेख किया है—

प्राचीन तथा मध्यकालीन संगीत-ग्रन्थों में घन वाद्यों के अन्तर्गत कांस्यताल अथवा झाँझ का विशेष महत्त्व परिलक्षित होता है। कीर्तन, पूजा आदि में झाँझ बजाने की प्रथा अधिक है। सूरसागर में झाँझ का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है—

> डफ झाँझ, मृदंग बजाई, सब नन्द-भवन गए।[4]
> रुंज मुरज डफ झाँझ झालरी, जन्त्र पखावज तार।[5]

झाँझ की ही अनुवृत्ति वाला अन्य वाद्य झालरी है जिसका उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लेख हुआ है।

संगीत-दामोदर में तार को ही करताल माना है। ब्रज मे इसे गिड़गिड़ी या रास-गिड़गिड़ी भी कहते हैं।[6] सूर ने भी अपने काव्य में इन नामों का उल्लेख किया है—

> कर करताल बजावहीं, छिरकति सब ब्रज नारि।[7]

---

1. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 236 पद सं० 3484
2. वही, पृ० 236 पद सं० 3485
3. वही, पृ० 244 पद सं० 3506
4. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 217 पद सं० 642
5. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 258 पद सं० 3513
6. डा० लालमणि मिश्र, भारतीय संगीत वाद्य, पृ० 113
7. सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 235 पद सं० 3482

मदन भेदि अरु राइगिरि गिरि, मुरमण्डल झनकार ।[1]

(फूले)बजावैं गिरगिरी गार, भेरी घहरैं अपार, संतन हित फल डोल ।[2]

रास नृत्य के पदों में भी करताल और ताल का उल्लेख कई बार हुआ है—

चरन रुनित नूपुर, कटि किंकिन, कंकन करतल ताल ।

बाजत ताल मृदंग बाँसुरी, उपजति तान-तरंग ।[3]

बाजत भूषण ताल मृदंग । अंग दिखावत सरस सुधंग ।[4]

नूपुर अर्थात घुंघरू भारतीय नृत्य की मौलिक विशेषता है । घुंघरू भारतीय नृत्य कला का एक विशिष्ट अंग है जिसे हम कदापि विच्छिन्न नहीं कर सकते । भारतीय नृत्य भावों के साथ लयाश्रित भी है । लय के प्रत्येक स्वरूप को पदाघातों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है और पैरों की ध्वनि का, पदो के स्वर का महत कार्य घुंघरू ही सम्पन्न करते हैं । घुंघरुओं को संगीत-ग्रंथों में क्षुद्र घण्टिका कहा गया है । इसके अतिरिक्त प्राचीन और मध्यकाल में इनके घर्घरिका, मर्मरा, घुंघरा आदि नाम भी प्रचलित थे । सूरसागर में फाग के समय इन्हें बजाने का उल्लेख है—

घुंघरू घंट घुमाइ, ग्वालि मदमाती हो ।

रास नृत्य के पदों में तो घुंघरू का विशेष महत्त्व है और सूरदास जी ने इनका उल्लेख बार-बार किया है—

चरन रुनित नूपुर, कटि किंकिन कंकन करतल ताल ।

नारा बंदन सूथन जंघन, पाइनि नूपुर बाजत संघन ।

नूपुर किंकिनि कंकन चुरी, उपजत मिस्रित ध्वनि माधुरी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास जी को वाद्य-यन्त्रों सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान था । किस वाद्य का किस पर्व या उत्सव से सम्बन्ध है, इसी को ध्यान में रखते हुए उन्होंने यथा समय उनका उल्लेख किया है । सूर-काव्य में विभिन्न वाद्य-यन्त्रों का उल्लेख, जहाँ सूर के संगीत और नृत्य सम्बन्धी ज्ञान का द्योतक है, वहाँ ब्रजवासियों द्वारा इन विभिन्न वाद्यों का प्रयोग संगीत और नृत्य की अभिवृद्धि का भी अभिद्योतक है ।

---

1 सूरसागर (दूसरा भाग) पृ० 248 पद सं० 2895

2 वही, पृ० 263 पद सं० 3535

3 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 514-515 पद सं० 1754

4 वही पृ० 531 पद सं० 1798

सूर-काव्य में ताल, भाषा और अलंकार

संगीत एवं नृत्य का मुख्य उद्देश्य आनन्द की सृष्टि करना है। इसके लिए इसका सर्वोत्तम माध्यम लय एवं ताल है। लय जहाँ बोलों को सुसज्जित करके नृत्य क्षेत्र में प्रवेश करवाती है, वहाँ स्वयं को एक नियमित चक्र में बद्ध कर लेती है, जिसे मापक यन्त्र अथवा नृत्य की भाषा में ताल कहते हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के अखण्ड काल में सीमित लय, सीमित लय से नियमित मात्राएँ तथा नियमित मात्राओं से ताल की उत्पत्ति हुई। नृत्य के क्षेत्र में ताल' एक अति प्राचीन पारिभाषिक शब्द है। नृत्य रूपी भव्य इमारत ताल पर ही सुनिर्मित हैं। नृत्य का अस्तित्व बनाए रखने वाला एकमात्र शब्द ताल ही है।

'ताल कालक्रियामानम्' की दृष्टि से गायन, वादन अथवा नृत्य में जो समय व्यय होता है, उसके माप को ताल कहते हैं। ताल की गति तबला, मृदंग, ढोलक आदि वाद्यों की सहायता से नापी जाती है। तालों की मात्राओं, गति और उनके विभाजन के रूप में विभिन्नता होती है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक ताल की गति, चलन तथा लय में अन्तर रहता है अतः एक विशिष्ट पद को इच्छानुसार प्रत्येक ताल में बद्ध तो किया जा सकता है परन्तु जिस पद की जो गति, लय और ताल होती है उसी से साम्य रखने वाली ताल में पद के भाव व्यक्त किए जाएँ तो वह अधिक दर्शनीय होगा।

सूरदास के पदों में तालों का उल्लेख प्रायः नगण्य-सा ही है। सूरदास ने अपने काव्य में एक ताल, झपताल, धमारताल, ध्रुवताल आदि का ही उल्लेख किया है। सूरसागर में केवल पाँच निम्न ऐसे पद हैं, जिनके ऊपर केवल त्रिताल का ही उल्लेख मिलता है—

> प्रभु तेरौ बचन भरोसौ साँचौ।
> पोषण भरन बिसंभर साहब, जो कलपै सो काँचौ ॥[1]
> अब तो यह बात मन मानी।
> छाड़ौ नाहि स्याम-स्यामा की बृन्दावन रजधानी ॥[2]
> मेरी सुधि लीजौ हो ब्रजराज।
> और नहीं जग में काउ मेरौ, तुमहिं सुधारन काज ॥[3]

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 10 पद सं० 32
2. वही पृ० 24 पद सं० 87
3. वही पृ० 60 पद सं० 220

हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ।।[1]
अब मेरी राखौ लाज मुरारी।
संकट में इक संकट उपजौ, कहै मिरग सौं नारी।।[2]

इसका अर्थ यह नहीं कि उनके अन्य सभी पद जिनमें ताल का उल्लेख नहीं है, तालबद्ध नहीं है। सूर के समस्त पद राग एवं ताल में बंधे हुए हैं। सूरसागर के पाँचों पद जिन पर ताल का उल्लेख हुआ है, समीक्षा पर खरे उतरते हैं अर्थात् पदों के उपरिलिखित ताल में वह पद सुविधापूर्वक सुगमता से बिना अधिक खींचतान किए भाव व्यक्त किए जा सकते हैं।

सूर के पद विशेष कर रास नृत्य से सम्बन्धित पद, छन्द और मात्राओं के अनुकूल विभिन्न तालों में बाँधे जा सकते हैं। उदाहरण-स्वरूप निम्नलिखित कुछ पद दिए गए हैं जिन्हें विभिन्न तालों में बाँधा गया है—

नृत्यत स्याम स्यामा-हेत।
मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि, नारि-मन सुख देत।।
कबहुँ चलत सुधंग गति सौं, कबहुँ उघटत बैन।
लोल कुण्डल गंड-मंडल, चपल नैननि सैन।।
स्याम की छवि देखि नागरि, रही इकटक जोहि।
'सूर' प्रभु उर लाइ लीन्हीं, प्रेमि गुन करि पोहि।।[3]

सूरदास के उपरिलिखित पद को रूपक ताल में बाँधा गया है, क्योंकि इस पद की गति का सन्तुलन 7, 14, 21 आदि मात्राओं की किसी भी ताल में ही खरा उतरता है। यह देखकर एक आश्चर्य होता है कि सूर का संगीत एवं नृत्य, सम्बन्धी ज्ञान न केवल इसके बाह्य प्रभाव तक ही सीमित था बल्कि वह संगीत एवं नृत्य के आधार तत्वों के आन्तरिक विषयों के भी आचार्य थे। इन्होंने अपने पदों की रचना न केवल उनके अनुकूल संतुलित ताल में ही की है बल्कि ताल के दस प्राणों में से एक प्राण 'जाति' का भी पूर्ण ध्यान रखा है। इनका उपरोक्त पद मिश्र जाति ताल के अन्तर्गत पूरा उतरता है। मिश्र जाति के तालों की श्रेणी में उसके एक कालखंड में सात मात्राएँ होती हैं। यह ताल तबले के बोलों पर आधारित है। उपरोक्त पद को इस प्रकार लिपिबद्ध किया गया है—

---

1 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 60 पद सं० 219
2 वही, पृ० 60 पद सं० 221
3 वही, पृ० 517 पद सं० 1766

ताल रूपक

मात्रा	1	2	3	4	5	6	7
ठेका	ती	ती	ना	धी	ना	धी	ना
ततकार	ता	थेई	तत	थेई	ऽ	थेई	ऽ
पाँव	दायाँ	बायाँ	दायाँ(एड़ी)	दायाँ	ऽ	बायाँ	ऽ
ताली	०			1		2	
रचना	नृत्यति	स्याऽम	स्यामाऽ	हेऽऽत	मुकुऽट	लटकनि	भृकुऽटि
	मटकनि	नाऽरीऽ	मनसुख	देऽऽत	कबहुँच	लतसुँऽ	धंऽऽग
	गतिसौंऽ	कबहुँऽ	उघटत	बैऽऽन	लोऽलकुं	डल गऽ	डमंडल
	चपऽल	नैंऽननि	सैंऽऽन	स्याम की	छविदे	खीऽनाऽ	ऽऽगरी
	रही इक	टकजोऽ	ही ऽऽऽ	सूऽरप्र	भुऽउर	लाऽइली	ऽन्हीऽऽ
	प्रेऽमगु	ऽनकरि	पोऽ हीऽ	करिपोऽ	हीऽकरि	पोऽहीऽ	करिपोऽ
	ही						
	×						

बनावत रास-मंडल प्यारौ ।
मुकुट की लटक, झलक कुंडल की, निरतत नँद दुलारौ ।।
उर बनमाल सोह सुन्दर बर, गोपिनि कै संग गावै ।
लेत उपज नागर नागरि संग, बिच बिच तान सुनावै ।।
बंसीबट-तट रास रच्यौ है, सब गोपिनि सुख कारौ ।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे मिलन सौं, भक्तनि प्रान अधारौ ।।[1]

उपरिलिखित पद की प्रकृति, गति एवं समय संतुलन को दृष्टि में रखते हुए इसको रास ताल में बद्ध किया गया है । इस पद को लिपिबद्ध करते हुए इसके संतुलन के साथ-साथ पद के विषय को भी ध्यान में रखा है ।

रास ताल में 13 मात्रायें होती हैं । यह एक अप्रचलित ताल है । इस ताल के 13 ही विभाग हैं, प्रत्येक विभाग को एक-एक मात्रा द्वारा विभाजित किया गया है । इस ताल में आठ तालीयाँ तथा पाँच खाली होती हैं । इस ताल की एक विशेष बात यह है कि यह ताल किसी भी जाति की परिधि में नहीं आता । यह ताल एक स्वतंत्र अस्तित्व रखता है । यह पखावज के बोलों पर आधारित ताल है । यह ताल अत्यन्त कठिन होने के कारण ही अप्रचलित है, परिणाम-स्वरूप संगीत के क्षेत्र में प्रवेश पाने वाले व्यक्ति भी जल्दी-जल्दी इस ताल को नहीं छेड़ते । अतः इस ताल को यदि हम संगीत एवं नृत्य कलाकारों की कार्य-कुशलता की कसौटी कहें, तो अनुचित न होगा । उपरिलिखित पद को इस प्रकार लिपिबद्ध किया गया है—

1. सूरसागर (पहला भाग) पृ० 516 पद सं० 1761

रास ताल

ताली	×	०	2	3	०	4	5	6	०	7	०	8	०
मात्रा	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
ठेका	धा	दिन	ता	किट	धा	दिन	ता	घेत	ता	तिट	कत	गदि	गन
तत्कार	ता	थेई	थेई	तत	आ	थेई	थेई	तत	ता	थेई	ता	थेई	तत
पाँव	दायाँ	बायाँ	दायाँ	बायाँ	बायाँ	दायाँ	बायाँ	दायाँ	दायाँ	बायाँ	दायाँ	बायाँ	दायाँ(एडी)
रचना	बनावत	राऽऽस	मंऽडल	प्याऽऽऽ	रौऽऽऽ	मुकुटकी	लटकझ	लककुंऽ	डलकीऽ	निरतत	नंऽदुदु	ला ऽऽऽ	रौऽऽऽ
	उरवन	माऽलसो	हऽसुंऽ	दरबर	गोऽपिनी	कैंऽसंग	गाऽऽऽ	वैऽऽऽ	लेऽतउ	पजनाऽ	गरनाऽ	गरिसंग	बिचबिच
	ताऽनसु	नाऽऽऽ	वैंऽऽऽ	बंऽसीऽ	बटतट	राऽसर	च्यौ हैं ऽ	सब गोऽ	पिनिसुख	काऽऽऽ	रौऽऽऽ	सूऽरदा	ऽसप्रभु
	तुम्हरेमि	लनसौंऽ	भक्तिनि	प्राऽनअ	धाऽऽऽ	रौऽऽऽ	भक्तिनि	प्राऽनअ	धाऽऽऽ	रौं ऽऽऽ	भक्तिनि	प्राऽनअ	धाऽऽऽ
	रौं												
	×												

आजु निसि रास रंग हरि कीन्हौ।
ब्रज बनिता-विच स्याम मंडली, मिलि सबकौं सुख दीन्हौ ॥
सुर-ललना सुर सहित बिमोही, रच्यौ मधुर सुर गान।
नृत्य करत, उघटत नाना-बिधि, सुनि मुनि बिसर्‌यौ ध्यान ॥
मुरली सुनत भए सब व्याकुल, नभ धरनी पाताल।
'सूर' स्याम कौ को न किए बस, रचि रस रास रसाल ॥[1]

सूरदास के उपरिलिखित पद को अष्टमंगल ताल में लिपिबद्ध किया गया है। इस ताल की 22 मात्राएँ होती हैं। इस ताल को 8 विभागों में विभाजित किया जाता है। इस ताल में 8 तालीयाँ होती हैं। इस ताल की विशेषता यह है कि इसमें खाली नहीं होती। इस ताल में पखावज के खुले बोलों का प्रयोग है।

यह ताल चतस्त्र जाति का ताल है, क्योंकि इस ताल के विभाग 4-2-4-6-2-2-2 मात्राओं में विभाजित हैं। उपरोक्त पद की गति एवं समय का संतुलन इस ताल में सही उतरता है—

1 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 516 पद सं० 1760

ताल अष्टमंगल

ताली	×				2		3				4
मात्रा	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
ततकार	ता	ऽ	ता	थेई	थेई	तत	आ	थेई	थेई	तत	जा
		5				6		7		8	
	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22
	थेई	थेई	ऽ	थेई	ऽ	तत	तत	आ	थेई	थेई	तत
	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
पाँव	दायाँ	ऽ	दायाँ	बायाँ	दायाँ	बायाँ	बायाँ	दायाँ	बायाँ	दायाँ	दायाँ
	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22
	बायाँ	दायाँ	ऽ	बायाँ	ऽ	दायाँ	बायाँ	बायाँ	दायाँ	बायाँ	दायाँ

रचना	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
	आजुनिसि	राऽसर	ऽांहरि	कीऽन्हौंऽ	ब्रजवनि	ताऽविच	स्याममं	ऽहलीऽ	मिलिसब	कौंऽसुख	दीऽन्हौंऽ
	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22
	सुरलल	नाऽसुर	सहितबि	मोऽहीऽ	रच्यौम	धुरमुर	गाऽऽन	नृत्यक	रतउघ	रतनाऽ	नाऽबिधि
	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
	सुनिमुनि	बिसर्‌यौ	ध्याऽन	मुरलीसु	नतभए	सबक्या	कुऽलऽ	नभधर	नीऽपाऽ	ताऽऽल	सूऽरस्या
	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22
	ऽमकौऽ	कौऽनकि	एऽबस	रचिरस	राऽसर	साऽऽल	रचिरस	राऽसर	साऽऽल	रचिरस	राऽसर
	सा										
	×										

जैसा कि पहले कहा गया है कि ताल से संगीत और नृत्य में समय क परिमाण किया जाता है। ताल वाद्यों से भी यही प्रयोजन सिद्ध होता है नृत्य में ताल के अनुसार शरीर के अंग-उपांगों का संचालन किया जाता है ताल के चूक जाने पर नर्तक अथवा नर्तकी को नृत्य करना कठिन हो जाता है नृत्य के समय हाथ से ताली बजाकर भी ताल दिया जाता है। सूर-काव्य में हाथ से ताली देकर ताल देने का उल्लेख मिलता है—

आनंदित गोपी-ग्वाल, नाचैं कर दै-दैं ताल।[1]

नाचत महर मुदित मन कीन्हें, ग्वाल बजावत तारी।[2]

रास नृत्य में उन्होंने झपतार ताल का भी उल्लेख किया है, जो कि एक ताल विशेष है—

छंद ध्रुवनि के भेद अपार। नाचति कुँवरि मिले झपतार।[3]

नृत्य प्राय: स्वर और ताल का अनुगत बताया गया है और मृदंग वाद्य पर किए जाने का कहीं-कहीं निर्देश है। निम्न पद में गायन, वादन और नृत्य-तीनों का सुन्दर समावेश मिलता है—

नन्द-नन्दन, सुघराई, बाँसुरी बजाई।
सरगम सुनकै साधि, सप्त सुरनि गाई।
अतीत अनागत संगीत, बिच तान मिलाई।
सुर ताल ऽरु नृत्य ध्याइ, पुनि मृदंग बजाई।
सकल कला गुन प्रवीन, नवल बाल भाई।
सुरज प्रभु अरस परस, रीझि सब रिझाई।[4]

भाषा

महाकवि सूर का विपुल साहित्य जिस भाषा में प्राप्य है, वह ब्रज है। सूर की जन्मभूमि 'सींहीं', सूर का साधना क्षेत्र "गौघाट', तथा उपासना क्षेत्र 'परासौली'—तीनों ही ब्रजभाषा क्षेत्र में स्थित हैं। सूरदास से लगभग एक शताब्दी पूर्व ब्रजभाषा में साहित्य रचना होने लगी थी परन्तु ब्रजभाषा को साहित्यिक भाषा के उच्च सिंहासन पर आसीन करने का श्रेय इस महाकवि को ही प्राप्त है। "उनकी भाषा में साधारण लोकगीत से लेकर चमत्कार-प्रधान दृष्टकूट-पद रचना तक की विविधता मिलती है। इसलिए इनको ब्रजभाषा का

1 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 221 पद सं० 649
2. वही, पृ० 212 पद सं० 622
3 वही, पृ० 532 पद सं० 1798
4. वही, पृ० 518 पद सं० 1769

वाल्मीकि कहना सर्वथा उचित ही है।"[1]

शौरसेनी, अपभ्रंश के विकसित रूप में ब्रज बोली का प्रचलन विक्रम की बारहवीं शताब्दी से ही आरम्भ हो गया था। शौरसेनी से सम्बन्धित होने के कारण इस बोली में स्वाभाविक रूप से माधुर्य गुण की विशेषता थी, जिसके कारण यह अपने क्षेत्र के लोकगीतकारों, साधु-सन्तों की धर्म मंडलियों और संगीतज्ञों द्वारा शीघ्र ही अपना ली गई। डा० रामकुमार वर्मा के कथनानुसार—"कृष्ण-भक्ति का साहित्यिक शृंगार इसी ब्रजभाषा में हुआ और ब्रजभाषा का चरमोत्कर्ष कृष्ण-भक्ति में हुआ। दोनों ने एक दूसरे को पा लिया। कृष्ण-भक्ति को ब्रजभाषा से अच्छी भाषा नहीं मिल सकती थी और ब्रजभाषा को कृष्ण-साहित्य से बढ़कर विषय नहीं मिल सकता था।[2] ब्रजभाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि यह भाषा सूर के इष्टदेव की विहार-भूमि की भाषा थी।

संगीतात्मकता तो ब्रजभाषा की थाती है। यही कारण है कि सूर के पदों की भाषा में भी संगीतमयता और शब्दमाधुरी प्रचुर मात्रा में पाई जाती है विविध राग-रागिनियों को अपनाते हुए उन्होंने तदनुरूप शब्दावली का प्रयोग किया है। मधुर, लयपूर्ण और नाद भरी शब्दावली के प्रयोग से सूर की भाषा अधिक प्रवाहमयी एवं हृदयग्राही दृष्टिगत होती है।

सूरदास के पदों में निश्चयात्मक ढग से ध्वनि का प्रयोग हुआ है। सूर शब्दों का इस प्रकार से प्रयोग करते हैं कि नृत्य का साकार रूप दिखाई देने लगता है। नृत्य का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। संगीतमय शब्द-योजना से नृत्य सजीव होकर आँखों के सामने आ जाता है। उदाहरणस्वरूप रासलीला का वर्णन करते हुए सूरदास कहते हैं—

मानौ माई घन घन अन्तर दामिनि।
घन दामिनी दामिन घन अन्तर सोभित हरि ब्रज भामिनि।
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर शरद-सुहाई जामिनी,
सुन्दर ससि गुन-रूप-राग निधि अंग-अंग अभिरामिनि।
रच्यो रास मिलि रसिक राई सौं मुदित भई ब्रज भामिनि
रूप निधान स्याम सुन्दर घन आनन्दमन विस्रामिनि,
खंजन, मीन, मयूर, हंस, पिक भाई भेद गज गामिनि,
को गति गनै 'सूर' मोहन संग काम बिमोह्यो कामिनि॥[3]

1. डा० मनोहन गौतम—सूर की काव्यकला, पृ० 221-222
2. डा० रामकुमार वर्मा—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 40
3 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 492 पद सं० 1666

"पद की प्रथम पंक्ति से नृत्य के उपयुक्त वातावरण, ताल और गति की अभिव्यक्ति होने लगती है। 'घन घन अन्तर दामिनि' शब्दों से जहाँ एक ओर रात्रि के वातावरण का भास होता है वहीं दूसरी ओर श्यामवर्ण कान्हा और गौरवर्ण गोपियों का रूप भी साकार हो जाता है। 'मानो माई' दो अक्षर वाले समविराम शब्दों से प्रारम्भ होने से पूर्व किन्तु नृत्य करने के लिए पूर्णतया प्रस्तुत नृत्यकार के नृत्य की ठहरी हुई मुद्रा झलकती है। 'घनघन' शब्दों के द्वारा ऐसा प्रतीत होता है मानो धीरे-धीरे मंद ताल तथा गति में नृत्य का आरम्भ हो रहा हो। "अन्तर दामिनि" शब्दों से नृत्य की तीव्रता का संकेत होने लगता है। द्वितीय पंक्ति से कृष्ण तथा ब्रजवनिताओं के संयोग द्वारा रास-नृत्य का संकेत मिलता है। दोनों पंक्तियों में 'न' ध्वनि की अधिकता विश्व में व्याप्त नाद-ध्वनि तथा घुंघरू की मधुर, धीमी, महीन तथा नृत्य की मन्द गति को व्यक्त करती है। तृतीय पंक्ति में तीन अक्षर वाले समविराम शब्दों द्वारा नृत्य की गति तथा ताल में तीव्रता आती है। 'म' ध्वनि के प्राधान्य से अंगों की भाव-भगिमा, उनके मोड़ तथा झुकने का आभास होता है। शब्दों की गति में चरणों की चंचल तीव्र गति स्पष्ट परिलक्षित होती है। यहाँ पर आकर प्रथम पंक्ति के 'घन घन' शब्द अत्यधिक सार्थक हो जाते हैं। अवरोह में लौटकर प्रथम पंक्ति के 'घन घन' शब्द के आने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो दुगन में नृत्य करते हुए तिया लेकर सम पर आ गए हों। प्रथम घन तक मानो किनारे पर लहर टकराती है, मुड़ती है और दूसरे घन पर उतर कर विलीन हो जाती है। आगे की तीन पंक्तियों में सूरदास रास लीला का सम्पूर्ण वातावरण और कृष्ण-गोपियों के आनन्द तथा उल्लास का प्रदर्शन करते हैं। यही नहीं, इसके आगे की पंक्ति में कवि खंजन, मीन, मयूर, हंस और पिक शब्दों के द्वारा रास-नृत्य की विशेषताओं—चंचलता, माधुर्य तथा सरसता नृत्य-कौशल, गति की सुकुमारता और स्वर का भी संकेत कर देता है। इस प्रकार शब्दों की ध्वनियों के संयोग से रास-नृत्य का पूर्ण चित्र अंकित हो जाता है।[1]

कवि के पास अक्षर और अर्थ नाम की दो शक्तियाँ हैं। ये शक्तियाँ साधारण व्यक्ति के पास भी होती है परन्तु दोनों के सामर्थ्य-स्वरूप में अन्तर होने के कारण दोनों की प्रयोग विधा भिन्न-भिन्न होती हैं। कवि की अक्षर-सम्पदा भाव-प्रेरित होती है और इसी हेतु उसमें ओज, प्रसाद या माधुर्य ओत-प्रोत रहता है। सूरदास जी के पास अक्षर-सम्पदा का भंडार था। वह समयानुकूल और वातावरण को ध्यान में रखकर अक्षर का प्रयोग करते थे। यही कारण है कि उनके काव्य में प्रभावोत्पादकता मिलती है। उदाहरणस्वरूप सूरदास जी

1. डा० उषा गुप्ता : हिन्दी के कृष्ण भक्ति कालीन साहित्य में संगीत, पृ० 13 1-14

के निम्नांकित पद पर विचार करें—

नृत्यत श्याम नाना रंग।
मुकुट लटकनि भृकुटि मटकनि, धरे नटवर अंग ।।
चलत गति कटि कुनित किंकनि घुँघरू झनकार।
मनौ हंस रसाल-बानी, अरस-परस बिहार ।।
लसति कर पहुँची उपाजै, मुद्रिका अति जोति।
भाव सौं भुज फिर जबहीं, तबहिं सोभा होति ।।
कबहुँ नृत्यत नारि-गति पर, कबहूँ नृत्यत आपु।
'सूर' के प्रभु रसिक के मनि, रच्यौ रास प्रतापु ।।[1]

इस पद में नृत्य के अनुकूल अक्षरों का प्रयोग तो किया ही गया है, साथ-साथ उसमें जिन दृश्यों का अंकन है, वे एक चित्र भी निर्मित कर रहे हैं। चित्र के साथ गतिमयता भी है और उसमें नृत्य की झनकार भी विद्यमान है। नाद का सौन्दर्य अनुप्रास की छटा के साथ मन को हरण करने वाले एक भव्य चित्र की अवतारणा भी कर रहा है।

भाषा के माधुर्य और संगीतात्मकता के लिए वर्ण-योजना का विशेष महत्त्व है। सूर की वर्ण-योजना भाषा में लय और संगीत, तथा भाषा को भावों के अनुकूल बनाने के उद्देश्य से की गई है, चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं, जैसा कि निम्न पदों में नृत्य की भंगिमाओं का चित्र वर्ण-योजना के माध्यम से व्यक्त किया गया है—

नृत्यत स्याम स्यामा-हेत
मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि, नारि-मन सुख देत ।।
कबहुँ चलत सुधंग गति सौं, कबहुँ उघटत बैन।
लोल-कुडल, गंड-मंडल, चपल नैननि सैन ।।
स्याम की छवि देखि नागरि, रही इकटक जोहि।
सूर प्रभु उर लाइ लीन्ही, प्रेम-गुन करि पोहि ।।[2]

यह पद वर्ण-संगीत और नृत्य का अनुपम उदाहरण है। "क और ट तथा ड और ल वर्णों की संयुक्त ध्वनियाँ नृत्य का ताल देती हैं। पद की प्रथम और तृतीय पंक्तियों की वर्ण-ध्वनि कोमल तथा द्वितीय और चतुर्थ पंक्तियों की वर्ण ध्वनि तीव्र है। ऐसा लगता है मानो वर्ण ही घुँघरू बनकर कोमल और तीव्र स्वर उत्पन्न कर रहे हैं। 'कबहुँ चलत सुधंग गति' का वर्ण-संगीत ऋजु है

---

1 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 494 पद सं० 1674
2 वही, पृ० 517 पद सं० 1766

और सरल पद-गति का द्योतक है किन्तु 'लोल कुंडल, गंड-मंडल' आदि तीव्र पद गति और घुँघरुओं के उच्च स्वरों के द्योतक हैं। इस प्रकार कवि जिस नृत्य का वर्णन पद में कर रहा है उसी का प्रत्यक्ष रूप उसके वर्ण भी उपस्थित कर रहे हैं।"[1]

अलंकार

काव्य में अलंकार का विशेष महत्त्व है। साहित्य में अलंकारों को यद्यपि सर्वप्रथम स्थान नहीं दिया जा सकता परन्तु उनकी नितान्त अवहेलना भी नहीं की जा सकती। सूर-काव्य में अलंकारों की कमी नहीं है। यदि कोई गोता लगाने का साहस करे तो चाहे जितने अलंकार निकाल सकता है। परन्तु हमारा अभिप्राय यहाँ पर अलंकारों का विस्तृत विश्लेषण और विवेचन नहीं है।

यहाँ पर हम केवल सूरदास द्वारा अपने काव्य में रूपक के विभिन्न रूपों के प्रयोग का उल्लेख करेंगे। इसमें भी वे नृत्य से प्रभावित हुए बिना न रह सके। उनके काव्य में नृत्य-रूपक दो हैं—एक में माया नटी नाचती है और दूसरे में मनुष्य माया के वश नाचता है। उदाहरणस्वरूप निम्न पद प्रस्तुत है—

(1) तुम्हारी माया महा प्रबल जिहिं सब जग बस कीन्हौ(हो)।
नैकु चितै, मुसक्याइ कै, सब कौ मन हरि लीन्हौ(हो)।
पहिरे राती चुनरी, सेत उपरना सोहै(हो)।
कटि लहँगा नीलौ बन्यौ, को जो देखि न मोहै(हो)।
× × ×
सूर स्याम इहि बरजि कै, मेटौ अब कुल-गारी(हो)।[2]

कवि सूर ने अपने पूर्व कृत्यों का दिग्दर्शन करते हुए सांगरूपक द्वारा नृत्य का ठाठ बाँधा है—

अब मैं नाच्यौं बहुत गुपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा-सब्द-रसाल।
भ्रम भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल।
तृष्ना नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ तिलक दियौ भाल।

1. डा० मनमोहन गौतम : सूर की काव्य-कला, पृ० 98
2 सूरसागर (पहला भाग) पृ० 13 पद सं० 44

कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल।
'सूरदास' की सबै अविद्या दूर करौ नन्दलाल ॥[1]

उपरिलिखित दोनों पदों में नाचने वाले की वेश-भूषा, भाव-भंगी, गति, गान आदि के उपमान प्रस्तुत किए गए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास जी को ताल सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान था। भाषा के क्षेत्र में भी उनकी समता करना कठिन ही है।

1. सूरसागर (प्रथम भाग) पृ० 42 पद स० 155

उपसंहार

जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है कि 'नृत्य' शब्द भारतीय ही नहीं अपितु विश्व-साहित्य की ऐतिहासिक श्रृंखला में बहुत प्राचीन है। 'नृत्य' शब्द का प्रयोग हमें विश्व-विख्यात वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। वैदिक साहित्य के पश्चात् पौराणिक साहित्य में भी नृत्य विषयक अनेक आलेख प्राप्त होते हैं। संस्कृत काव्य में भी नृत्य के शास्त्रीय स्वरूप का विवेचन मिलता है। भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र ही सबसे प्रथम ग्रन्थ प्रमाण के रूप में आता है, जहाँ से हम नृत्य के शास्त्रीय स्वरूप का सही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। हिन्दी काव्य में भी हमें नृत्य विषयक सामग्री का उल्लेख प्राप्त होता है। सूरदास से पूर्व विद्यापति के काव्य में नृत्य का विवेचन हुआ है परन्तु नृत्य का विस्तृत रूप से वर्णन करने में सूर सर्वोपरि हैं। उनके प्रभु श्रीकृष्ण नर्तक के रूप में विश्व-साहित्य में प्रसिद्ध है अतः सूरदास जी के काव्य में नृत्य का चित्रण स्वाभाविक ही था।

सूरदास जी हिन्दी काव्य के संगीत एवं नृत्य के सम्राट माने जाते हैं। इनके काव्य में नृत्य सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द तो मिलते ही हैं, उसके साथ-साथ नृत्य के सभी रूपों का विस्तृत विवेचन भी प्राप्त होता है। सूर-काव्य में रास नृत्य सम्बन्धी पदों की भरमार है। इन पदों का सूक्ष्म अध्ययन करने से उस समय के समाज की रंग-बिरंगी रेखाएँ हमारे सामने अंकित हो जाती हैं। रास करने वाली ब्रज की जनता नृत्य के सभी भेदों से भिज्ञ होने के कारण अत्यधिक कलाविद् थी। रास के माध्यम से परोक्ष रूप में जनता के उल्लास उमंग और हर्ष का अभिद्योतन होता है। गोपियों की बाह्य सज्जा से उस युग की वेशभूषा, आभूषण तथा अलंकरण के विभिन्न प्रसाधनों का परिचय मिलता है। रास के वर्णन में सूरदास जी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचा दिखाई देता है। कवि ने श्रीमद्भागवत् की परम्परागत अनुकृति नहीं की, वरन् वास्तव में उन्होंने अनुपम आध्यात्मिक रास से विमोहित होकर रचना की है। रास के वर्णन में संगीत की तल्लीनता और नृत्य की बँधी गति के साथ एक जागरूक आध्यात्मिक मूर्च्छना, अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रशान्ति और दृश्य के चटकीलेपन के साथ भावना की तन्मयता के जो प्रभाव उत्पन्न हुए है उनसे कवि की कला-कुशलता और गहन अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है।

सूरदास जी के काव्य में नख-शिख वर्णन की विशेष महत्ता है। सूर-काव्य

में नेत्र सम्बन्धी पद विशिष्ट हैं। उनमें नेत्रों के सम्बन्ध में विभिन्न उक्तियाँ वैचित्र्य के साथ प्रयुक्त हैं। सूर के नेत्र सम्बन्धी पदों में उपमानों की भरमार दिखाई देती है। पखेरू, भृंग, कुरंग, नमक हराम, ढीट, लोभी, चोर, चकोर आदि उपमान अत्यन्त ही आकर्षक हैं। नेत्र सम्बन्धी पदों में गोपियों की मानसिक परवशता का मनोहारी चित्र मिलता है। नेत्रों के अतिरिक्त शरीर के सभी अंगों और प्रत्यंगों का आकर्षक चित्रण मिलता है। इसके साथ-साथ आभूषणों सम्बन्धी सूर की जानकारी भी पाठक को चकित कर देती है। ब्रज का शायद ही कोई आभूषण ऐसा हो, जिसका उल्लेख सूर-काव्य में न मिलता हो।

सूर-काव्य में गति चित्रण की भी भरमार है। सूरसागर में ऐसे अनेक पद हैं जिनमें गतियों और क्रियाओं का वर्णन हुआ है। भागना रोकना, मारना, आँगन में आकर खड़े हो जाना आदि गतियों का रूप चित्रात्मक है। काली नाग को नाथने का वर्णन अतीव चमत्कारिक है और उसमें झिड़कना, लात मारना, जगाना, अकुलाकर उठना, डरना, गर्व करना, पूँछ पकडना, फुँकार भरना, क्रोध से फूलना, काँपना, फन से घात करना आदि अनेक क्रियाओं का रूप वर्णित हुआ है। यह ऐसी क्रियाएँ हैं जिनको नृत्य में प्रदर्शित करने से दर्शक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इतना ही नहीं, सूर-काव्य में भावों की अभिव्यक्ति भी प्रचुर मात्रा में मिलती है। जहाँ तक भावजगत का सम्बन्ध है, सूर की समता करने वाला कवि कठिनाई से ही मिलेगा। ये भाव नृत्य-कला के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं और इसी कारण सूरदास जी नृत्य क्षेत्र में इतना आगे बढ़ पाए हैं।

सूरदास का संगीतज्ञ होने के नाते वाद्य-यन्त्रों सम्बन्धी परिचय भी उनके अप्रतिम संगीत-ज्ञान का द्योतक है। सूर-काव्य में सैंकड़ों वाद्य-यन्त्रों का अवसरानुकूल प्रयोग उनकी संगीत-प्रियता का सूचक है। सूर-काव्य में मुरली को ही लिया जाए तो हमें सूर के संगीत-ज्ञान पर आश्चर्य होगा। सूर-काव्य में मुरली का वर्णन, तत्कालीन शास्त्रोचित रीति से मुरली-वादन की पद्धति तथा उसकी विषय-वस्तु, मुरली के धारण की विधि एवं उस पर हस्त-संचालन की प्रक्रियाएँ, मुरली वादन के समय मुरली-वादक-मुद्राएँ, की मुरली के निर्माण की विधि, मुरली-वादकों की सामाजिक स्थिति आदि का सम्पूर्ण दिग्दर्शन तो कराता ही है, साथ ही उससे यह तथ्य भी उद्घाटित होता है कि सूरदास जी को मुरली सम्बन्धी इन सभी विधाओं का समुचित ज्ञान था।

सूर को ताल सम्बन्धी विशेष जानकारी थी। इसका पता हमें उनके पदों द्वारा लगता है। पदों के ऊपर या बीच में सूरदास जी ने कई तालों का उल्लेख किया है जैसे त्रिताल, झपताल, एक ताल, धमार आदि। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने पदों की रचना करते समय मात्राओं, गति और छन्दों के

सन्तुलन का पूरा ध्यान रखा है। इनके किसी पद में हमें असन्तुलन या हेर-फेर या निरर्थक बिखराव का आभास नही होता।

सूरदास जी ने सर्वप्रथम ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया। उनकी भाषा की कोमल कान्त पदावली, भावानुकूल शब्द-योजना, सार्थक अ-प्रस्तुत विधान, धारावाही प्रवाह, संगीतात्मकता एवं सजीवता प्रशंसनीय है। उनकी भाषा में विविध रूपों को परिलक्षित करके उन्हें 'ब्रजभाषा का वाल्मीकि' कहा गया है। उन्होंने ब्रजभाषा में जिस आदर्श रूप को प्रस्तुत किया वही, परवर्ती कवियों द्वारा ग्रहण किया गया। उनके काव्य में साधारण बोलचाल की भाषा से लेकर अलंकृत और नाद-वैभव से सम्पन्न भाषा मिलती है। रास में जहाँ नृत्य की रुन-झुन सुनाई पड़ती है वहाँ दावानल में भीषणता साकार हो उठती है।

समग्रालोचन के पश्चात् हम विश्वास से कह सकते हैं कि सूरदास जी नृत्य के प्रकाण्ड पंडित थे। आज भी सूर के पदों को शास्त्रीय संगीत एवं नृत्य के क्षेत्र में सम्मान प्राप्त है। सूरदास जी ने गायन, वादन एवं नृत्य तीनों के सफल संयोग द्वारा संगीत की परिभाषा को सार्थक सिद्ध किया है। सूर की प्रतिभा ने काव्य, संगीत और नृत्य का इतना सुन्दर समन्वय किया है कि आज भी मानव निराशा और उत्पीड़न के क्षणों में सूर की पद-योजना में संगीत की तान और नृत्य की झनकार से आनन्दित हो उठता है और भविष्य में भी आनन्दित होता रहेगा।

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डॉ० दीनदयाल गुप्त
2. कत्थक दर्पण : तीर्थराम आजाद
3. कत्थक श्रृंगार : तीर्थराम आजाद
4. कत्थक नृत्य शिक्षा : पुरू दधीच
5. कथकलि नृत्य कला : जयसिंह ए० राठौर (अनुवादक)
6. निबन्ध-संगीत : डा० लक्ष्मीनारायण गर्ग
7. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास : प्रभुदयाल मीतल
8. ब्रज लोक संस्कृति, ब्रज की लीला : कृष्णदत्त वाजपेयी
9. भारतीय नृत्य कला , केशव चन्द्र वर्मा
10. भारत के शास्त्रीय नृत्य : छाया भटनागर
11. भारतीय संगीत वाद्य : डा० लालपति मिश्र
12. मणिपुरी नृत्य—प्रकाश नारायण
13. महाकवि सूर और भ्रमरगीत : शंकर देव अवतरे
14. महाकवि सूरदास : डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल
15. शिव का नृत्य : आनन्द के स्वामी
16. संगीत रत्नाकर शार्ङ्गदेव : पण्डित एस०सुब्रह्मण्यम शास्त्री (सम्पादक)
17. संगीत दर्पण : दामोदर पण्डित (अनुवादक विशम्भर नाथ भट्ट)
18. संगीत पारिजात : अहोबल पण्डित (भाष्यकार पं० कान्लिदजी)
19. संगीत नृत्यकार : आचार्य भरत
20. सूरसागर (प्रथम भाग), नागरी प्रचारिणी सभा काशी
21. सूरसागर (द्वितीय भाग), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
22. सूर-सारावली, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
23. सूर-निर्णय : द्वारिका दास परीख और प्रभुदयाल मीतल
24. सूरदास : डॉ० हरवंशलाल शर्मा (सम्पादक)
25. सूरदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
26. सूर सौरभ : डॉ० मुन्शी राम शर्मा

27. सूर संचयन : डा० मुंशीराम शर्मा
28. सूर-सन्दर्भ : श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
29. सूरदास : डा० ब्रजेश्वर शर्मा
30. सूर साहित्य : नव मूल्यांकन : डा० चन्द्रभान रावत
31. सूर-काव्य और संगीत तत्त्व : डा० आशा लता प्रसाद
32. सूर एक अध्ययन : श्री शिखिर चन्द्र जैन
33. सूर का काव्य वैभव : डा० मुंशीराम शर्मा
34. सूर की साहित्य साधना : भगवत स्वरूप मिश्र एवं विश्वम्भर अरुण
35. सूर की काव्य कला—डा० मनमोहन गौतम
36. सूर की काव्य साधना—डा० गोविन्द राम शर्मा
37. हिन्दी कृष्णभक्ति कालीन साहित्य में संगीत : डा० उषा गुप्ता
38. हिन्दी साहित्य : डा० श्यामसुन्दर दास
39. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा
40. श्री सूरदास जी का जीवन-चरित : श्री राधाकृष्णदास

पत्रिकाएं

1. संगीत : संगीत कार्यालय हाथरस
2. संगीत कला विहार : संगीत कला विहार कार्यालय, मिरज (महाराष्ट्र)
3. ब्रज भारती पत्रिका

English Books :

1. Sangit of India : Adiya Begum
2. The Dance of Shiva